शान्तिप्रिय द्विवेदी

॥ श्रीः ॥

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणी

सत्य ही जिनका जीवन था, धर्म्म ही जिनका प्राण था,
सारल्य ही जिनका स्वभाव था, विश्वास ही जिनका सम्बल था,
सुव्यवस्था ही जिनकी चेतना थी, सजलता ही जिनकी आत्मा थी,
स्वच्छता ही जिनकी कला थी, करुणा ही जिनकी कविता थी,
आत्मदृढता ही जिनकी दीप्ति थीं, स्फूर्ति थी, वाणी थी,
जिन्होंने मेरे तुतले-वय से मुझे जीवन दिया,
जो मेरे लिए माता-पिता और ईश्वर थीं।
भारत की उन्हीं पावन पौराणिक आत्मा
सद्य स्वर्गीया
पूजनीया

बहिन कल्पवतीदेवी

के

चरण-कमलो मे अर्पित

श्री काशी
नवरात्र द्वितीया, स० १९९८

बहिन का अकिंचन भाई
'मुच्छन'

निवेदन

'कवि और काव्य' के बाद की मेरी यह पुस्तक है। रचना-क्रम से यद्यपि इसे पहिले ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था, तथापि 'सञ्चारिणी' के विचारो के पूर्व-परिचय के रूप मे 'साहित्यिकी' ही इससे पहिले प्रकाशित हो गई। 'साहित्यिकी' मे मेरे कुछ प्रारम्भिक साहित्यिक रचना-काल की, कुछ 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' तथा 'कवि और काव्य' के बीच की, कुछ 'सञ्चारिणी' के लेखन-काल की रचनाओ का सग्रह है। एक दृष्टि से वह मेरे अब तक के विभिन्न साहित्यिक प्रयासो की शृखला है। यदि साहित्यिक निबन्धो के पूर्व से मेरे गद्य-परिचय की आवश्यकता हो तो 'जीवन-यात्रा' भी पाठको तक पहुँच चुकी है।

'कवि और काव्य' के बाद प्रकाशित होनेवाली 'साहित्यिकी' जहाँ मेरे अब तक के प्रयत्नो और विश्वासो की मेरी स्वीकृति है, वहाँ मेरे भावी मनन-चिन्तन की साकेतिकी भी। 'साहित्यिकी' में मैने विविध युगो का सामञ्जस्य लेकर चलने का प्रयत्न किया

है । अब 'सञ्चारिणी' मे मेरे प्रयत्न और विश्वास अन्तरोन्मुख ही न रहकर बहिर्मुख भी हो गये है ।

'सञ्चारिणी' मे एक-आध मेरी तथा मुद्रण-सम्बन्धी जो भूले रह गई हो उन्हे सहृदय क्षमा करेगे ।

शरद के नारी-निरूपण मे मै मुख्यत अपनी बहिन के व्यक्तित्व से, अशत शरद के एक सहृदय समीक्षक की पंक्तियो से, लाभान्वित हुआ हूँ । आभारी हूँ ।

'सञ्चारिणी' के ये निबन्ध प्रकीर्णक नही, बल्कि परस्पर क्रम-बद्ध है, विविध युगो के प्रतीक-स्वरूप । इनमें मैंने साहित्यिक इतिहास को भी अपनी अभिव्यक्ति मे स्पर्श किया है ।

आज राजनीति की भाँति ही साहित्य मे भी अनेक 'वाद' प्रचलित हो रहे है । राजनीतिक परिस्थितियो के सघर्ष से जीवन मे भी उथल-पुथल हो रहा है, फलत जीवन का प्रश्न लेकर साहित्य को भी नये दृष्टिकोण से देखा-समझा जा रहा है । दृष्टिकोणो मे उसी प्रकार अनेकता हो सकती है जिस प्रकार तृषार्त्त धरित्री को जीवन देने के लिए विभिन्न स्रोतो मे । इस भिन्नता के कारण 'वाद' अनेक हो सकते है किन्तु उन्हे 'विवाद' बनाना शुभैषिता नही । कोई भी 'वाद' यदि सचमुच अपने अभ्यन्तर मे लोक-कल्याण की आकाक्षा रखकर चलना चाहता है, तो वह विवाद नही करता; सहयोग करता है और भिन्नताओ मे भी एक सामञ्जस्य स्थापित करने को स्नेहातुर रहता है ।

'सञ्चारिणी' मे मैंने अपनी दृष्टि से एक सामञ्जस्य उपस्थित किया है, साहित्य मे मैं ऐसे अन्य प्रयत्नो की भी सदिच्छा करता हूँ।

'सञ्चारिणी' मेरे अत्यन्त सकट-काल मे प्रकाशित हो रही है। मेरे लिए यह एक अभूतपूर्व समय है। न केवल मेरा जीवन, बल्कि मेरी रचनाएँ जिनके स्नेह-सरक्षण मे पालन-पोषण पाती आई है, जो जीवन-यात्रा के दुर्गम पथ पर अपनी ममता का अञ्चल मेरे मस्तक पर रखे हुए सौ-सौ असुविधाओ मे भी मुझे सब तरह से अग्रसर किये हुए थी, मेरी वे पूजनीया बहिन गत मार्च मे इस ससार से बिदा हो गई। मेरी रचनाओ मे शब्द मेरे रहते थे, आत्मा उनकी। वे स्वय एक करुण साहित्य थी, इसी लिए जीवन में मैं आँसुओ को अधिक प्यार कर पाया हूँ। और अब तो अश्रु ही मेरे सर्वस्व रह गये—घोर सन्तापो मे मूक, कोमल कणो मे सजल।

जावन-मरण तो सृष्टि का एक अनिवार्य्य क्रम है। किन्तु वह मरण दु.खदायी है, जो समाज-द्वारा किये गये व्यतिक्रम से जीवन के न पनप पाने के कारण पछतावा दे जाता है। सबसे बडी कमी समाज मे स्नेह-सहयोग का अभाव है। आज स्थिति यह है—'धनियो के है धनी, निर्बलो के ईश्वर।' किन्तु 'दैवो दुर्बल-घातक'। ऐसे अवसर पर हम भाग्य की इच्छा कह-कर मन को भुला लेते है। परमात्मा करे, आज के सामूहिक आन्दोलन अपनी सफलता में इतने शुभ हो कि अकिञ्चनो का

जीवन भी साधन-सम्पन्न हो। तभी मेरी बहिन-जैसी आत्माएँ इसी वसुधा को स्वर्ग मानकर यहाँ सुखी होंगी।

'सञ्चारिणी' पाठको के सामने उपस्थित करते हुए मेरे हृदय में अतल मूक व्यथा है। विधवा बहिन की छाया मे पले होने के कारण मेरे अंत सस्कार बहुत कोमल है। ममता के अञ्चल मे ही यह कोमलता खिलती रही है। आज की दुर्द्धर्ष परिस्थितियो मे इतना कोमल जीवन आगे कहाँ तक पनप सकेगा, मैं नही जानता।

लोलार्क कुड, काशी,
१७-४-३९

शान्तिप्रिय द्विवेदी

क्रम

सञ्चारिणी

—::०::—

भक्ति-काल की अन्तर्चेतना

(१)

हमारा वैष्णव काव्य-साहित्य न दुखान्त है, न सुखान्त, वह तो प्रशान्त है। रामायण को लीजिए। रोमान्स और ट्रेजडी के बाद क्या है? सीता का वनवास और राम का राज्याभिषेक, मानो विषाद और हर्ष, अन्धकार और प्रकाश की उष शान्ति। कृष्ण-चरित्र में भी इसी ब्राह्ममुहूर्त्त की झलक है। सौ-सौ विरह-क्रन्दन उठाकर द्वारिकाधीश ने विश्व-जीवन के समुद्र-तट पर लोक-धर्म्म का जयनाद किया। हृदय के भीतर बहते हुए अपने ही अश्रुओ के प्रति कठोर होकर उस कोमल-कलित वृन्दावन-विहारी ने प्रणय के फाग को विश्व-वेदना की होली मे धधकाकर महाशान्ति दे दी।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास,—इन चार आश्रमो की योजना ही हमारे जीवन की अन्तिम झाँकी को परम शान्ति मे दिखलाती है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य में सयम की कठोरता मे हमारे जीवन का प्रारम्भ होता है, और अन्तिम आश्रम सन्यास की कोमलता मे उसका अन्त होता है। ब्रह्मचर्य की प्राभातिक उज्ज्वलता सन्यास के सान्ध्यकाषाय मे गोधूलि का अञ्चल हो जाती है, मानो हम अपने जीवन की चित्रकला (कविता) को एक सादी कला से प्रारम्भ करते है, बीच मे वासन्ती और इन्द्रधनुषी छटा उठाकर, अन्त मे एक गम्भीर शान्त वर्ण (गोधूलि) मे समाप्त कर देते है।

ब्रह्मचर्य से सन्यास तक के मध्य में रोमान्स और ट्रेजडी है, किन्तु ये हमारे जीवन-काव्य के गौण परिच्छेद है, आदि (ब्रह्मचर्य-सयम) और अन्त (सन्यास-शान्ति) ही प्रधान है। कारण, हमारी सस्कृति ने सम्पूर्ण अनुरागो (मनोरागो) के ऊपर विराग को ही प्रधानता दी है। जो हमारा गौण है, वह दूसरे साहित्यों का प्रधान है, इसी लिए आधुनिक साहित्य में हम रोमान्स और ट्रेजडी अथवा सुखान्त और दुःखान्त की ओर ही झुकाव पाते है। सुखान्त या दुःखान्त, जहाँ का साहित्यिक दृष्टि-कोण है वहाँ की सस्कृति ऐहिक है। हमारी सस्कृति अतीन्द्रिय है। हमारा देश इन दिनो ऐहिक सस्कृति के सम्पर्क मे भी है, अतएव, हमारे आधुनिक साहित्य की सृष्टि मे वह दृष्टि भी अगोचर नही।

अपने प्राचीन साहित्य मे हम यह भी देखते है कि अन्त में ट्रेजडी का सम्पूर्ण भार गृहिणियो के मस्तक पर ही करुणा का ताज बनकर शोभित होता है, वनवास मे सीता और कृष्ण-विरह मे गोपिकाएँ करुणा की ऐसी ही सम्राज्ञियाँ है। पुरुष ने ट्रेजडी का भार अपने मस्तक पर नही लिया, यह क्यो ? पुरुष यदि यह भार लेता तो यह उसका अनधिकार होता। इतना बडा भार लेकर वह इस पृथ्वी पर शेष नही रह जाता। पृथ्वी की भाँति हमारी गृह-देवियाँ ही सर्वसहा है, इसी लिए वे पृथ्वी की कन्याएँ है, सीता की भूमि-विलीनता इसी सकेत का रूपक है। माताओ ने जिस ससार को जन्म दिया है, उसकी रक्षा के लिए, प्रजा-वत्सलता के लिए, वे वीरबाहुओ को जीवित-सुरक्षित देखना चाहती है। वे मरणान्तक वेदना स्वय लेकर अपनी स्मृति की सजीवनी से पुरुष को जीवित रहने के लिए छोड जाती है। वे मानो विधाता की एक विदग्धतम कृति के रूप मे सूखी पृथ्वी पर अश्रु-सिन्धु बहाकर चली जाती है और पुरुष मानो एक कवि के रूप मे उनका स्मरण-कीर्त्तन करता रहता है। नारी, पुरुष के जीवन मे जो करुणा-घन छहरा जाती है, उसी के कारण पुरुष शान्ति का प्रतिनिधि बन पाता है। करुणा ही मनुष्यता है। मनुष्यता के महासिन्धु मे पुरुष अपनी जीवन-नौका खेता है, मधु और कैटभ-जैसे जो असुर, मानवता के सिन्धु को कलुषित करते है, वह उनका सहार करता जाता है।

जीवन की ट्रेजडी नारी के वजाय पुरुष के कन्धो पर पडती तो हमारे आश्रमो की व्यवस्था ही वदल जाती। तव शायद एक ही आश्रम रह जाता--गृहस्थ। काव्य मे एक ही रस रह जाता--शृगार। उस स्थिति मे राम-चरित्र और कृष्ण-चरित्र का कथानक ही कुछ और हो जाता।

(२)

हम पौराणिक भारतीयो की वैष्णव सस्कृति कलात्मक है, जिसका परिचय हमे अपने चित्रो, मूर्त्तियो और दशावतार की झाँकियो से मिलता है। यह सम्पूर्ण कलासृष्टि आध्यात्मिक सस्कृति के प्रकाशन के लिए है। वर्णमाला का वोध कराने के लिए जिस प्रकार शिशु-हाथो मे सचित्र पोथियाँ दी जाती है, उसी प्रकार जनता को अदृश्य आत्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए हमारे समाज और साहित्य मे सगुण आराधना अर्थात् भक्ति-मय चित्र-काव्य उपस्थित किया गया है। इस प्रकार सत्य ने सौंदर्य धारण किया है, अदृश्य ने दृष्टान्त पाया है। वे सगुण झाँकियाँ आज के लैन्टर्न-लेक्चरो (व्याख्यान-चित्रो) से अधिक सजीव और मानवी है। वे अवैज्ञानिक नही, मनोवैज्ञानिक है, जनता की रसवृत्ति से काव्य-द्वारा सहयोग करती है।

हम सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् के चिर उपासक है, इसलिए कि, हम केवल लौकिक नही, वल्कि आध्यात्मिक सस्कृति के पूजक

है। लौकिक जीवन को हमने आध्यात्मिक सस्कृति-द्वारा लोकोत्तर बनाया है। पश्चिमीय सभ्यता लौकिक है, अतएव वह कला के जीवन के, ऊपरी ढाँचे (आकार) को ही देखती है वहाँ इसी अर्थ मे कला 'कला के लिए' है। किन्तु हम सुन्दरम् के स्थूल ढाँचे मे सूक्ष्म चेतना को देखते है, इसी लिए सुन्दरम् से पहिले सत्यम्-शिवम् कहकर मानो भाष्य कर देते हैं। इस प्रकार हम उस चेतना को ग्रहण करते है जिसके द्वारा सौन्दर्य साधार एव अस्तित्वमय है।

हम अपनी सस्कृति मे एक कवि है पश्चिम अपनी सभ्यता मे एक वैज्ञानिक। स्थूलता (पार्थिवता) के ही रहस्यो मे निमग्न रहने के कारण वह निष्प्राण शरीर को भी अपनी वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में रखने को तैयार है, जब कि हम उसे निस्सार मानकर महाश्मशान को सिपुर्द कर देते है। जो हमारा त्याज्य है, वह पश्चिम का ग्राह्य है, इसी लिए वह उसे कब्रो और म्यूजियमो मे सँजोये हुए है। हमारा जो ग्राह्य है, उसे हम सँजोते है काव्य मे, सगीत मे, चित्र मे, मूर्त्ति मे,—व्यक्ति की स्मृति को अर्थात् उसकी अदृश्य चेतना को। हमारे ये चित्र, हमारी ये मूर्त्तियाँ जडता की प्रतिनिधि नही, जब हमने शरीर को ही सत्य नही माना तब मूर्त्ति को क्या मानेगे! हम मूर्त्ति को ही सम्पूर्ण ईश्वर नही मानते। जब कोई मूर्त्ति खण्डित कर दी जाती है तब हम यह नही समझते कि ईश्वर का नाश हो गया, बल्कि

उसके बदले दूसरी मूर्त्ति स्थापित कर देते है। हम तो जड-प्रतीक इसलिए रखते है कि हमे यह साकेतिक सूचना मिलती रहे कि सत्य (चेतना) के न रहने पर जीवन इन प्रतीको की भाँति ही जड हो जाता है। इन प्रतीको के माध्यम से हम उसी सत्य का, उसी चेतना का आह्वान करते है।

हम व्यक्ति को नही, बल्कि व्यक्ति के भीतर बहते हुए रस को महत्त्व देते आये है, इसी लिए हमारे यहाँ एक-एक पौराणिक व्यक्ति एक-एक रस के आलम्बन-स्वरूप ग्रहण किये गये हैं। दुर्भिक्ष-पीडित सुदामा करुणा के प्रतिनिधि, राधाकृष्ण प्रीति के प्रतिनिधि, सीताराम भक्ति के प्रतिनिधि है। इन तथा अन्यान्य रूपो मे हमने व्यक्तियो का चित्र नही बनाया, बल्कि व्यक्तियो के अन्यतम प्रतिनिधियो का रस-चित्र बनाया है। उन चित्रो के साथ एक-एक आख्यान जुडे हुए है, मानो प्रत्येक चित्र एक-एक मूक खण्डकाव्य हो।

हमारे काव्य मे जो आलम्बन-मात्र है, विज्ञान के लिए वह आलम्बन ही सम्पूर्ण लक्ष्य है। विज्ञान अपने अनुसन्धानो से प्राणिशास्त्र को जानता है, जब कि हम रसो के भीतर से हृदय का अनुसन्धान करते आये है। हम विज्ञान को अपने लौकिक अस्तित्व के लिए ग्रहण करते है, ज्ञान को आत्मबोध के लिए, रस को आत्मीयता के लिए। इन सभी आदानो मे भारत का दृष्टिकोण कला का सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् ही है।

(३)

मध्यकाल की हिन्दी कविता, जिसमें राधाकृष्ण और सीता-राम की झाँकियाँ हैं, वह गृहस्थो के नश्वर जीवन में अविनश्वर का साहचर्य्य है, सृष्टि के लिए मानो अपने कलाधर का सरक्षण है। हम मिट्टी की जीवित प्रतिमाएँ अपने प्रतिमाकार को अपने ही जैसे रूप-रगो में प्रत्यक्ष कर अपनी अगणित चेतनाओ को उसमें पुञ्जीभूत कर, उसके महान् अस्तित्व से जीवन-यात्रा के लिए शक्ति और स्फूर्ति ग्रहण करती है। जिसमे इतनी चेतनाओ का सम्मिलन है, जिसमें सौ-सौ सजीव विश्वासो का केन्द्रीकरण है, वह प्रभु निरा निर्जीव कल्पना-मात्र कैसे कहा जा सकता है! अगणित कलकण्ठो से चैतन्य होकर जब शून्य आकाश भी सजीव प्रतिध्वनि देता है, तब वह निर्गुण अपनी अगणित आत्माओ से शोभा-समाविष्ट होकर क्यो न सगुण हो जायगा? हम तार्किक नही, विश्वासी है। आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभव हमारे धार्मिक विश्वासों के मूल आधार है। हम सत्य को कुरेद-कुरेदकर नही देखते। कुरेद-कुरेदकर देखने पर, सत्य को क्षत-विक्षत कर देने पर, तार्किक जिसे अन्त मे कुरूप बनाकर पायेंगे, उसे हम रूपवान् बने रहने देने के लिए विश्वासपूर्वक ही अपने हृदय-मन्दिर मे आराध लेते है।

धार्मिक विश्वासो का क्षेत्र वह है जिसमें बुद्धि और तर्क गवेश करने का प्रयत्न तो करते है, किन्तु जितना ही प्रयत्न करते

है, उतना ही असफल रहते हैं। इससे धार्मिक विश्वासो की निराधारता नही, बल्कि बुद्धि और तर्क की ही अक्षमता सिद्ध होती है। ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र निश्चित प्रमाण हमारी चेतना मे ही विद्यमान है। हमारे अस्तित्व का मूल तत्त्व, हमारे अन्तरतम की रहस्यपूर्ण निधि जो अपने को 'हम' कहती है, वह ईश्वर की ही साँस है। वही पूर्ण पुरुष अपने को मनुष्य मे अवतरित करता है।

यह तो विज्ञान और वैज्ञानिक तरीको के बिलकुल विपरीत होगा कि हम उन उभी बातो को ठीक न मानकर अस्वीकृत कर दे जिनकी हम टेस्टट्यूब में एसिड की सहायता से जाँच न कर सकते हो। अपनी सूक्ष्मतम उन्नतियो के बाद विज्ञान भी वही पहुँचेगा जहाँ धार्मिक विश्वास पहुँच चुके है। इस प्रकार विज्ञान अध्यात्म के लिए एक आनुसान्धानिक कोष बन जायगा। आज भी स्वर्गीय बोस ने पौधो और वृक्षो मे चेतना का जो अन्वेषण कर दिया है उससे सृष्टि की एकात्मता का आध्यात्मिक सत्य सिद्ध होता है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी अपनी कल्पना मे एक ईश्वर का अस्तित्व पाता है।

हाँ, विश्वबोध-द्वारा जो ईश्वर-दर्शन होता है वह जीवन को कल्याणमय बनाता है, किन्तु जो केवल लकीर पीटने के लिए ही ईश्वरवादी हैं उनके द्वारा समाज मे ढोग और पापाचार फैलता है। समाजवादी इसी विडम्बना को देखकर ईश्वर-विमुख हो गये।

जो विडम्बनापूर्ण हैं वे तो नश्वर है, वे अविनश्वर को क्या जानें! अविनश्वर को जानना सहज नही, इसी लिए नश्वर और अविनश्वर के बीच ईश्वर की प्रतिष्ठापना की गई, अर्थात् विश्व के सौन्दर्य्य और ऐश्वर्य्य के बीच एक श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया गया। मनुष्य न तो नश्वर हो जाय और न अविनश्वर, बल्कि भोग-योग के सन्तुलन से प्राप्त जीवन का रस ग्रहण करे; इसी हेतु ईश्वरवाद है।

सृष्टि का वह एक आदिम युग था, जब प्राणिमात्र गहनतम अन्धकार मे था। दूर अलक्ष्य की बात तो दूर, हम स्वय अपने लिए ही एक विस्मय थे, हमे अपनी ही प्रत्यक्षता पर सशय था। उस विस्मय और सशय के वायुमण्डल मे हमने तर्क के तीर चलाये। तर्काघात से पीड़ित होकर हम आत्मोपचार के लिए सहयोग की खोज में निकले। इच्छा हुई, कोई हमे सहला दे, कोई हमारे आँसुओ को समझे। इन्ही कोमल आकाक्षाओ ने समाज बनाया। सामाजिक रूप मे ही भारत ने इस सत्य को जाना—'एकोऽहं बहु स्याम।' हमने अपनी प्रत्यक्षता पर विश्वास करके ही जाना कि जैसे हम अनेक है, वैसे ही हमसे परे कोई एक भी है। यह विश्वास ही हमारा स्वभाव बन गया, हमारा स्वभाव ही काव्य बन गया।

जहाँ तर्क है, वहाँ सशय और अविश्वास है। आज जो कुछ विश्वासरूप में शेष रह गया है, वह अनेक तर्कों और

अनेक संशयो के लोक-मन्थन से प्राप्त कौस्तुभ मणि है। वह हमें फूलो और नक्षत्रो की भाँति सुलभ हुआ है, वह हमारे रूखे-सूखे जीवन को नन्दन-वन बनाने के लिए है।

मनुष्य ने अपने निरन्तर के विकास से जो जीवनाधार पाया, वह तर्क नही, भाव है। तर्क जडयुग की वस्तु है, भाव विकसित मानव-युग का सत्य। भाव के क्षेत्र मे यदि तर्क अपने को आधुनिक युग का विचारक सिद्ध करे तो यह उसका अनधिकार और अत्याचार होगा, अन्धकार का प्रकाश पर आक्रमण होगा। ससार में जहाँ जो कुछ भी भाव है, काव्य है, विश्वास है, वहाँ तर्क की गुञ्जाइश नही। उसका स्थान विज्ञान मे हो सकता है, जहाँ एक अन्धकार को पार करते-न-करते दूसरा अन्धकार घटाटोप-समस्या बनकर अमावस्या के अन्ध आकाश की भाँति अछोर फैला रहता है। आर्य्य भारत ने अपना स्वभाव, अपना विश्वास विज्ञान की समस्त सीमाओ को पार कर ज्वलन्त किया है। भारत तार्किक नही, चिरजिज्ञासु है। विज्ञान की तर्क-दृष्टि आकाश के कुहू-अन्धकार पर पडी, भारत के जिज्ञासु नेत्रो ने कहा—अन्धकार तो है, माया की सघन-छाया तो है, किन्तु इन उडुगणो मे किसके अन्तर्लोचन जगमगा रहे है?

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन?

इस माया मे कौन चेतन जाग रहा है ? भारत की जिज्ञासा चिर-सजगता की ओर बढ़ी, उसने अमावस्या के कुहू के बाद शरद का पूनो देखा, मानो अपने हँसते हुए सच्चिदानन्द के स्वर्ग को देखा ! उसने विज्ञान से ऊपर उठकर उसी स्वर्ग मे गृहस्थ होकर विहार किया । उसने विहार किया, विलास नही, वह जगा रहा, सोया नही । जब जब उसने अलसाकर सोना चाहा, तब तब उसके कवियो ने उसे जगाया। भारत ने आत्मजागृति प्राची के उस स्वर्णप्रभात से पाई थी जिसे हम अपनी सभ्यता के इतिहास मे सतयुग कहते है। सम्पूर्ण तर्कों और अविश्वासो को पारकर उसी स्वर्णप्रभात मे भारत ने जन्म-जन्म का तत्त्व पा लिया था, उसी ब्राह्ममुहूर्त मे उसने जीवन को जान लिया था, और ज्ञान के सर्वोच्च शिखर से यह शुभ कामना की थी—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

(४)

आर्य्य भारत अपने ज्योतिर्म्मय से आलोकित इहलोक मे जीवन का खेल खेलता है। कृष्ण ने आँखमिचौनी खेलकर बतला दिया है कि देखो, खिलाडी ऐसे खेलते है—प्रेम मे वे मोहासक्त है, कर्त्तव्य मे निर्मोही है। वे निर्म्मम-ममतालु है, वे प्रेमी-जोगी है। भारत इसी आदर्श के चरणो मे अपने समस्त जीवन का पादार्घ्य देकर, 'कृष्णार्पणमस्तु' कहकर, विश्वक्रीडा

करता है । हम आर्य्यगृहस्थ मानो यह कहते हैं—भगवन्, तुमने न जाने हमारे किस भाव से रीझकर यह क्रीडामय जीवन पुरस्कृत किया है । लो हम खेलते हैं, लेकिन अपनी इस लौकिक क्रीडा पर हम दम्भ नही करेंगे, जब हमारे खेल का समय हो जायगा तब हम तुम्हारे ही उन चरणो मे लौट आवेंगे जिनकी स्मृति हमारे प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ है—

त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।

उन्ही श्रीचरणो मे हम अपना अन्तिम जीवन समर्पित करते हुए कहेंगे—लो भगवन् अब तो खेल समाप्त हुआ, लो अपनी थाती सँभालो—त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। गोविन्द, तुम्हारी वस्तु तुम्ही को!

गोविन्द की यह पूजा वही कर सकता है जो चेतन को मानता है, न कि चेतन के पार्थिव नीड (शरीर) को। शरीर तो हमारी अनन्त यात्रा का एक जगम-निवास है, इसके प्रति विछोह का भाव रखने से हमारे जीवन मे एक दार्शनिक जागरूकता बनी रहती है । शरीर के प्रति विछोह बनाये रखने मे भी हमारी सस्कृति हमे सहायता देती है। आर्य-भारत पुनर्जन्म का विश्वासी है, इसी लिए वह अनन्त की ओर अग्रसर होने मे जन्म-जन्म का आशावादी है । प्राणी जब तक वीतराग नही हो जाता तब तक वह जीवन को प्यार करता

है । उसका आशावाद उसकी जीवनी शक्ति के कारण है । जिस लौकिक जीवन में उसने एक बार रस पाया उस रस को वह मचले हुए बालक की तरह बार-बार प्रभु से चाहता है । उसके इस रस-लोभ से ही उसका पुनर्जन्म होता है । प्रभु ने सदय होकर उसे पुनर्जन्म का वरदान दिया है, मानो उसका यह स्वस्तिवचन है—ले भाई, जब तेरा जी भर जाय तभी जीवन्मुक्ति माँगना । अन्त मे लौकिक रास-रग से ऊब जाने पर जीव ब्रह्म से बिलख पड़ता है—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल !

इस क्रन्दन को सुनकर वह करुणानिधि केशव, जीव को जीवन्मुक्त कर देता है । इस प्रकार हमने जीवन को योरप की भाँति एक सग्राम नही, क्रीड़ा माना है । इसी कारण हमारे जीवन में मनोरमता और कविता है ।

हमारे प्रभु की झाँकी अर्द्धनारीश्वर की झाँकी है, पुरुष ओर प्रकृति के सयुक्त व्यक्तित्व से पूर्ण होकर वह अपनी लोकलीला का विस्तार करता है । अपनी दाम्पत्यिक इकाई से हम प्रभु की ही लीला का प्रसार करते हैं, इसी लिए हम वैष्णव हैं । वैष्णव भारत अपनी गृहस्थी मे एक ओर तो प्रेमी है, दूसरी ओर सेवक । प्रेमी के रूप मे हम पारिवारिक प्राणी हैं, अतिथि-सेवी के रूप मे लोक-सग्रही । कृष्ण-काव्य ओर राम-काव्य ने

हमारे इसी द्विविध जीवन को व्यक्त किया है। कृष्ण-काव्य ने हमें दाम्पत्य प्रेम दिया है, राम-काव्य ने विश्वप्रेम।

अन्तत गार्हस्थिक जीवन ही हमारा सर्वस्व नही है, हमारा सर्वस्व है विश्वजीवन। गार्हस्थिक सरिताओ के रूप मे हम उसी विश्वजीवन के समुद्र की ओर अग्रसर होते रहते है। सामाजिक असामञ्जस्य से जब ससार का एक प्राणी रास-रङ्ग करता है और दूसरा आठ-आठ आँसू रोता है, तब हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हमने गार्हस्थिक जीवन में जो सुख-दुख पाया है उसकी अनुभूति से दूसरो के सुख-दुख को भी समझें, दूसरो के सुख-दुख मे हाथ बँटावें। गीता के अनुसार—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हम अपने ही रास-रङ्ग मे सकीर्ण और अनुदार न हो जायँ; यही लोकसग्रह का पथ है। जो अपनी ही स्वार्थ-पूजा मे व्यस्त है, वह वैष्णव नही। वैष्णव अपने सच्चिदानन्द के आनन्द को प्रभु के प्रसाद की तरह बाँटकर ग्रहण करता है। वह लोभी नही, सवेदनशील होता है, वह पशु नही, मनुष्य बनता है। जो मनुष्य है, वही वैष्णव है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये
जो पीर पराई जाणे रे,

परदु.खे उपकार करे
तोए मन अभिमान न आणे रे !

निर्गुण कबीर ने, जिसने समस्त लोकलीला को मिथ्या कहा है, उसने भी जीवन मे सवेदना को ही लौकिक तत्त्वो मे सर्वोत्तम तत्त्व माना है—

मुखड़ा का देखत दरपन में
तोरे दया-धरम नाँहि मन में

इस प्रकार उसने रूप-रङ्ग को छोड़ देने पर भी वैष्णव जीवन के सार को ग्रहण किया।

जहाँ शोषक और शोषित के प्रसग मे मनुष्यता के लिए हृदय जगता है, हृदय का वह जागरण ही एक धर्म्म है। उस धर्म्म का रसोद्रेक करुण काव्य है। किसी मजहब को न मानते हुए भी हम सहानुभूति की भूमि (हृदय) मे धार्म्मिक (समष्टि-वादी) रह सकते हैं। आज हमारी वह भूमि खो गई है, हमे उसे पाना है—साहित्य और समाज की नवचैतन्य अभि-व्यक्तियो द्वारा।

हमारे काव्य-साहित्य में सच्चिदानन्द का करुणा-मय स्वरूप ही लोक-सग्रह का परमात्मरूप है। जब कोई सम्प्रदाय अपने प्रभु के करुणमुख दुखियो को सुखी कर उनमे अपने सच्चिदानन्द की झाँकी नही उतारता, तब सच्चे वैष्णव मानवता की पुकार सुनाते हैं। इस युग के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव बापू वही पुकार सुना रहे हैं।

(५)

वैष्णव-काव्य रहस्यवादमय है। रहस्यवाद दो प्रकार का है—एक पार्थिव, दूसरा अपार्थिव। सगुणोपासक कवि पार्थिव रहस्यवादी है, दूसरे शब्दों में इन्हें हम छायावादी कह सकते है, जो कि सृष्टि के कण-कण, तृण-तृण को इसलिए प्यार करते है कि उनमें उन्हे अन्तर्चेतन की अनुरागिनी छाया मिलती है। ये जीवन के एक मिस्टिक रियलिज्म (रहस्यवादी यथार्थ वाद) के कवि है।

सगुण-काव्य में पार्थिव भावो के अवगुण्ठन से अपार्थिव सत्य का सौन्दर्य जगमगा रहा है। इस अवगुण्ठित आध्यात्मिकता के कारण हमारे जीवन की भाँति ही सगुण-काव्य मे भी एक कलाछवि आगई है। गृहस्थो तक पहुँचने के लिए उन्हीं के बानक मे सगुण-काव्य को कला-स्वरूप मिला है। 'खग जाने खग ही की भाखा' के अनुसार वे उस काव्य को ग्रहण कर लेते है। किन्तु अपार्थिव रहस्यवाद भावुक गृहस्थो की चीज नही, वह ज्ञानियो की चीज है। वह गृहस्थो के कवि की नही, सन्तों की बानी है। सन्तो ने अपनी बानी में कला के रूप-रङ्ग को नही ग्रहण किया, वे केवल सत्य या सत्त को ग्रहण कर सन्त हो गये। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना के प्रकाशन के लिए हमारे भक्ति-काव्य में एक ओर निर्गुण मिस्टिसिज्म है, दूसरी ओर सगुण-मिस्टिसिज्म। सगुण-रहस्यवाद

(छायावाद) मे प्रेम और भक्ति है, निर्गुण-रहस्यवाद मे केवल भगवद्भक्ति । एक मे लौकिकता और अलौकिकता दोनो है, दूसरे मे केवल अलौकिकता।

तुलसीदास का छायावाद तथा निर्गुण सन्तो का रहस्यवाद कृष्ण-काव्य की प्रतिक्रिया-सा है । लौकिक तृष्णाओ के लिए ही जब कृष्ण-काव्य का दुरुपयोग होने लगा तथा गृहस्थो ने माधुर्य्य भाव को ही प्रधानता देकर लोक-धर्म्म को बहा दिया, तब उन्हे चैतन्य करने के लिए तुलसी ने राम-काव्य द्वारा प्रभु के लोकसग्रही-स्वरूप का दर्शन कराया । उन्होने गार्हस्थिक जीवन की कदर्थना देखकर गार्हस्थिक जीवन की उपेक्षा नही की, बल्कि लोकसेवी और त्याग-परायण गृहस्थ के रूप मे सीताराम को उपस्थित कर हमारे लौकिक जीवन का सशोधन किया । किन्तु निर्गुण सन्तो ने गृहस्थ जीवन की कदर्थना मे माया का अविचार ही अविचार देखा । उन्होने उसके सशोधन का नही, वल्कि मूलोच्छेदन का ही उपाय किया । गृहस्थो ने उनके साहित्य को उतना नही अपनाया, जितना तुलसी की रामायण को । सन्तो मे कवीर और नानक इत्यादि ने गृहस्थो की भी प्रीति प्राप्त करने का प्रयत्न किया और गृहस्थो के दाम्पत्य भाव मे माया और जीव का रूपक वाँधकर उन्हे मायातीत होने का सन्देश दिया । किन्तु वे जितने वैदान्तिक थे, उतने मनोवैज्ञानिक नही । सूर ने 'भ्रमर-गीत' मे गृहस्थो के मनोवैज्ञानिक घात-

प्रतिघात दिखलाकर उनकी सौन्दर्य-लालसा को ऊधो के तर्क-वाद पर विजयी बना दिया था। ठीक ऊधो की भाँति निर्गुण भी उदासी हो गये थे। किन्तु तुलसी ने गोपियो की विजय स्वीकार की। उन्होंने राधाकृष्ण को सीताराम के रूप में अपनाया। राधाकृष्ण के रूप मे ही क्यो नही ? कृष्ण-काव्य का दुरुपयोग वे देख चुके थे। तुलसी और निर्गुणो का लक्ष्य एक ही था अर्थात् जीवन मे परमचेतन की अनुभूति, आत्मा-द्वारा एकमात्र परमात्मा की प्रीति। किन्तु कृष्ण-काव्य के दुरुपयोग के साथ ही तुलसी निर्गुणो की वैदान्तिक विफलता भी देख चुके थे, अतएव कृष्ण-काव्य की भाँति उन्हे भी मनोवैज्ञानिकता-द्वारा ही अपने निर्गुण लक्ष्य को सगुण रूप देना पड़ा, यद्यपि उनका उद्देश्य कृष्ण-काव्य से भिन्न था। कृष्ण की त्रिभङ्गी झाँकी गार्हस्थिक जीवन की मनोहरता के लिए उन्हे प्रीतिकर तो थी—

कहा कहूँ छबि आज की खूब बने हो नाथ !

किन्तु—

तुलसी मस्तक तब नवै धनुष-बान लेहु हाथ॥

देश-काल के जिस वातावरण मे लोक-सग्रह का आदर्श वे उपस्थित करना चाहते थे, उसके लिए उनके प्रभु को धनुष-बान हाथ में लेना आवश्यक था। कृष्ण-काव्य की अपेक्षा राम-काव्य में तुलसी ने जिस विशाल क्षेत्र को अपनाया, उसी के अनुरूप

उस काव्य के लिए विशद मनोवैज्ञानिकता और प्रशस्त कलात्मकता की उन्हे रससिद्धि करनी पडी। मनोवैज्ञानिकता ने उनके काव्य को विश्वस्त बनाया, कलात्मकता ने उनके काव्य को मनोरमतापूर्वक मर्म्मस्थ किया।

(६)

जैसा कि निवेदन किया है, तुलसी और निर्गुणो का लक्ष्य एक था, किन्तु तुलसी का कर्म्ममय होकर, निर्गुणो का ज्ञानमय होकर। कृष्ण-काव्य के भीतर जो अद्वैतवादी वैष्णव थे, यथा नन्ददास इत्यादि, उन्होने भी अपने निर्गुण-प्रसङ्ग मे गीता के कर्म्मयोग का सङ्केत किया था। हाँ तो, तुलसी कर्म्मयोग के कवि थे, निर्गुण ज्ञानयोग के सन्त। ज्ञानयोग के प्रति राम-काव्य की उपेक्षा नही थी, माधुर्य भाव प्रधान कृष्ण-काव्य की थी। तुलसी के हृदय मे उन ज्ञानयोगियो के लिए सम्मान था, जिन्होने बिना लौकिक माया में फँसे ही परमतत्त्व पा लिया था। इसी लिए उन्होने अपने प्रभु के मुख से कहलाया है—

'ज्ञानी मोहिं विशेष पियारा।'

किन्तु वे उस परमतत्त्व को ज्ञानियो तक ही सीमित न रखकर, सासारिको तक पहुँचाना चाहते थे। वे महाकवि थे, उनकी कला-रुचि ने जीवन को केवल एक जीवित-श्मशान के रूप में ही देखना नही पसन्द किया। महाश्मशान (महानिर्गुण)

जीवन के जिन अनेक परिच्छेदो का अन्तिम परिच्छेद है, तुलसी के नाटकीय और औपन्यासिक कलाकार ने उन पूर्व परिच्छेदो को भी ललककर देखा। उन्होंने जीवन को अयोध्या के राज-प्रासाद मे, जनकपुर की फुलवारी मे, चित्रकूट की वनस्थली मे, केवट की नाव मे, शबरी के जूठे बेर मे, लका के महायुद्ध मे देखा। इन परिच्छेदो के अस्तित्व पर ही अन्तिम परिच्छेद (श्मशान) का सूक्ष्म सत्य या सत्त अवलम्बित है। वह सार इसी संसार का नवनीत है, वह रस यही के शूल-फूलो का निचोड है। यदि कर्म्म-फल नही तो प्रेम का फूल कहाँ, यदि फूल नही तो अभ्यन्तर का रस कहाँ! अतएव रस के लिए सम्पूर्ण लौकिक उपादानो का सचयन भी आवश्यक है जनक की तरह विदेह होकर, जिन्होने आत्मा के रस को—

'भोग-योग-महँ राखहिं गोई।'

यह उसी के लिए सभव है जो ज्ञानी और कर्म्मयोगी दोनों ही हो। तुलसीदास ने अपने राम-काव्य मे ज्ञानयोग को ही कर्म्मयोग मे मूर्त्त किया था। ज्ञान के आधार के लिए उन्होने कर्म्म को लौकिक स्वरूप दिया था—

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥

साथ ही वे ईश्वरवादी भी थे, इसी लिए उन्होने यह भी कहा—

को करि तर्क बढ़ावहि शाखा।
होइहै वही जो राम रचि राखा ।।

मनुष्य विश्वासपूर्वक, तर्क-रहित होकर कर्म्म करे, फल की चिन्ता न करे, फलाफल की चिन्ता प्रभु की वस्तु है,—

मोर सुधारहि सो सब भाँती।
जासु कृपा नहि कृपा अघाती ।।

इस प्रकार गीता का विवेकसयुक्त विश्वासधीर निष्कामकर्म्म अथवा अनासक्त योग तुलसीदास के राम-काव्य का लक्ष्य था। उसी वैष्णवीय विश्वास से मगलमय अनासक्त योग के जीवित उदाहरण हमारे पूज्यचरण बापू हैं, जिन्होने ज्ञानयोग को अपने राष्ट्रीय कर्म्म-योग मे एक स्वरूप दे दिया है।

विश्वजीवन के महाभारत मे एक दिन भारत ही अपनी इसी सस्कृति को लेकर पुन. दिग्विजयी होगा। इस वैज्ञानिक युग में, इस जड-प्रतियोगिता के दुष्काल मे, यदि किसी को संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न करने का श्रेय है तो इसी भारत को और वह महापुरुष है हमारा बापू। भौतिक सभ्यताओ की भीड़ मे से निकलकर, अपनी लकुटिया से पथ-सन्धान करते हुए, वह भारत की ओर लौटा जा रहा है, साथियो को भी उसी ओर लौटा रहा है। वह भारत के जीवन में राम-काव्य को जगा रहा है। भारतीय सस्कृति के उस महा-वैतालिक का सन्देश हमे नतमस्तक शिरोधार्य्य है। किन्तु हम

नतमस्तक होकर उससे सौन्दर्य-कला की भी भीख (अनुमति) माँग लेगे, जैसे हमने प्रभु से यह जीवन माँगा है। हम कहेगे—बापू, हम तुम्हारे राम-काव्य के आध्यात्मिक समुद्र में कृष्ण-काव्य की एक गार्हस्थिक स्नेह-सरिता होकर आना चाहते है।

(७)

कृष्ण-काव्य मानव-जीवन का भावयोग है। ज्ञानयोग और कर्म्मयोग की भाँति ही यह भी एक दिव्य योग है। तुलसी ने ज्ञानयोग और कर्म्मयोग में इसी भावयोग का योग देकर योगियो की सम्पत्ति (राम-चरित्र) को गृहस्थो के उपयोग के लिए भी सुलभ किया था, क्योकि वे एक समन्वयकार भक्त कलावान् थे। ज्ञानयोग, कर्म्मयोग और भावयोग ही क्रमश. सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। कृष्ण-काव्य और वर्तमान छायावाद की कविता में केवल सुन्दरम् है। वर्तमान छायावाद में राधाकृष्ण या सीताराम नही है, किन्तु वही माधुर्य अनाम रूप से है। छायावाद ने सत्यम्-शिवम् की अवहेलना नही की है, बल्कि उन्हे सुन्दरम् मे ही रसमय कर दिया है, मानसिक सुधा को पार्थिव प्यालो मे ही ग्रहण किया है। निर्गुण ने जिसे चेतना-मय किया, सगुण ने जिसे मानव-मय किया, आधुनिक छायावाद ने उसे प्रकृति-मय किया। निर्गुण की चेतना को.

सगुण की प्रीति-प्रतीति को, उसने विश्व-प्रकृति में सजीव किया। सूफियो ने भी यही किया था, किन्तु जीवन को वीतराग करने के लिए, जब कि छायावादी जीवन के प्रति अनुरागी भी है; एक लोक-रहित लौकिक है, सामाजिक जगत् मे एक आन्तरिक समाज के स्रष्टा है। सूफी रहस्यवाद निर्गुणवाद का ही माधुर्य रूप था, वह निर्गुण का परिष्कार था। उसी प्रकार वर्तमान छायावाद सगुण का परिष्कार है। दोनो परिष्कार रोमान्टिक है।

मध्यकाल में कृष्ण-काव्य का जो दुरुपयोग हुआ था उसका कारण यह है कि सौन्दर्य और प्रेम अत्यन्त ऐन्द्रिक हो गये थे। विजातीय पराधीनता मे जिस प्रकार हमारी सस्कृति संकुचित हो गई थी, उसी प्रकार हमारे गृहस्थो की मनोवृत्ति भी। खाना-पीना, मौज करना, जीवन का यही रगीन रूप शेष रह गया था। मनुष्य और प्रकृति का सार्वजनिक जगत् (विस्तृत मनोराज्य) विदेशी सल्तनत (भौतिक ऐश्वर्य) की ओट में ओझल हो गया था। विदेशी सल्तनत ने अपनी जिस कला की छाप हमारी कला पर डाली, वह कला ऐन्द्रिक थी। शृगारी कवियो ने उस कला को, उस तर्जेअदा को अपनाया, किन्तु युगो के आर्य्यशोणित ने उस पर राधाकृष्ण का धूप-छाही रग चढाये रक्खा। साहित्य में पौराणिक सकेत से हमारी सामाजिक सस्कृति को सूर और तुलसी ने जिस लगन से जगाया, उसी का यह सुफल था कि ऐन्द्रिक कला के वातावरण में रहते हुए भी

शृंगारिक कवियों ने राधाकृष्ण का स्मरण बनाये रक्खा जब कि सूर और तुलसी अपने विरक्त और भक्त रूप मे विजातीय समाजतन्त्र के प्रभाव से अपने को अलग रखकर ही हमारे साहित्य में वैष्णव-कला का विशद कवित्व दे सके।

मध्ययुग मे दाम्पत्य भाव सङ्कट मे पड गया था। विजातीय सस्कृति अपने सद्गुणो के साथ ही अपनी विलासिता भी ले आई थी। हमारे यहाँ दाम्पत्य का जो सती आदर्श था, विजातीय रीति-नीति उससे भिन्न थी, उसमें मानवी स्खलन के लिए विशेष नियंत्रण न था। नृपतियो की विलासिता के कारण जनसाधारण के लिए निश्चिन्त गार्हस्थिक जीवन दुर्लभ था। फलतः वैष्णव गृहस्थो को जो दाम्पत्यिक भूख थी वह शृंगारी कवियो की राधाकृष्ण-मूलक कविताओ मे प्रकट हुई। राधाकृष्ण की झाँकियो ने हमारे सामाजिक जीवन मे विजातीय रीति-नीति की बाढ को नवीन युग आने तक मिट्टी के बाँध (शारीरिक सौन्दर्य) से रोका। तत्कालीन वेश-भूषा की भाँति उन्होंने अपने काव्य में भी कुछ कलाविन्यास शासक-जाति से लिये, किन्तु आत्मा (सस्कृति) यथाशक्ति अपनी ही रक्खी। हम तो अपने उन कवियो को बधाई ही देगे कि उन्होने अपनी कविता को सर्वांशतः विजातीय ही नही बना डाला, बल्कि गृहस्थों के हृदय मे राधाकृष्ण की प्रेम-प्रतिमा हनुमान् के हृदय मे राम की मूर्त्ति की भाँति स्थापित कर रक्खी। उनकी कविताओ

मे जो अतिरजकता (उत्कट शृगार) है वह नैतिक न्याय-तुला पर तौलकर नीति-विवेचन की चीज नही, वल्कि वह कला और इतिहास-विवेचन की चीज है। सूर और तुलसी की भाँति यदि उन्होने भी कोई दार्शनिक सत्य प्रकट किया होता तो उसका नैतिक विवेचन भी हो सकता था, किन्तु जो उनका क्षेत्र नही, उन्हे उस क्षेत्र मे रखकर देखना गुलाव को सरोवर में देखना है। अतएव, कला की दृष्टि से उनमें जो च्युति दीख पडे, साहित्यिक सत्य के उद्‌घाटन के लिए उसी का विवेचन होना चाहिए। अश्लीलता उस युग की वह विकट प्यास है, जिससे विजातीय परिस्थितियो के कारण हिन्दू दाम्पत्य भाव का दारिद्रय प्रकट होता है, अतएव शृगारिक कवि सहानुभूति के पात्र है।

मदिरा से जैसे गला सूख जाता है उसी तरह विलासिता से सामाजिक जीवन सूख गया था। परन्तु कविता हमारी पुरातन सम्पत्ति थी, यही नही, हमारी जाति ही कविता की जाति है, इसी लिए सामाजिक जीवन के मरुस्थल मे शृगारिक कवियो ने प्रणय-रचनाओ से ही कुछ सरसता वना रक्खी थी। रीति-काल में शृगार-रस की प्रधानता का एक कारण यह भी है कि उसके कवि शृगार को ही रसराज मानते थे। उनके दृष्टिकोण से मतभेद हो सकता है, किन्तु उनका कवित्व, जहाँ तक वह रसराज के राज मे अराजकता, (अश्लीलता) नही उत्पन्न करता, सुग्राह्य है।

(८)

आज मध्य-युग का सम्मोहन दूर हो जाने पर, आधुनिक कवियो ने, सूर और तुलसी की भाँति भक्त न होते हुए भी, अपनी मुक्त मानसिकता से सूर और तुलसी की विशद कला को समझा तथा मानवी भावो को जीवन के बहुविध रूप में (केवल दाम्पत्य रूप में ही नही) सामाजिक और प्राकृतिक विस्तार दिया। गुप्त जी ने खड़ी बोली में तुलसी को जगाया, छायावादियों ने सूर, कबीर और मीरा को। गुप्त जी और उपाध्याय जी अपनी काव्य-रचना को एक सामाजिक भूमि पर लेकर खडे हुए, इसी लिए उसमें विविध रूप में लोकनायक सीताराम और राधाकृष्ण हैं, किन्तु छायावादी अपनी रचनाओ को लेकर मानसिक भूमि पर खड़े हुए, अतएव उसमे लोक नही, लोकाभास है; वस्तुजगत् नहीं, भावजगत् है। इसी लिए दोनों काव्य-समूहो की कला मे भी अन्तर है। भारतीयता दोनो की ही कला में है, किन्तु गुप्त जी और छायावादियो की भारतीयता में महात्मा गाधी और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भारतीयता का अन्तर है।

'' मनुष्य की तरह साहित्य भी आदान-प्रदान ग्रहण करते हुए चलता है; व्यक्तित्वपूर्ण मनुष्य और व्यक्तित्वपूर्ण साहित्य, दोनो अपने आदान-प्रदान में एक आत्म-चेतना बनाये रखते हैं। वे अपने को खो नही देते, अन्धअनुकरणशील नही हो जाते,

बल्कि वे अपने पूर्व और वर्तमान युग से अधिकाधिक प्रकाश ग्रहण कर अपने युग को भी स्मरणीय बना जाते है। मध्यकाल मे सूर और तुलसी ने यह प्रकाश अपने मनोवाछित सस्कृत-साहित्य से ग्रहण किया, इसी लिए उनमे सस्कृत भारत की स्वच्छ सस्कृति है। शृगारिको ने कृष्ण-काव्य और मुस्लिम भावुकता से रस ग्रहण किया, इस रस-ग्रहण मे उनकी आत्मचेतना बहुत सजग न रह सकी, इसी लिए सूर और तुलसी की भाँति उनमे भारतीय सस्कृति शरद्ज्योत्स्ना की भाँति स्वच्छ न होकर एक धुंधली चाँदनी-जैसी है अवश्य।

वर्तमान ही नही, किसी भी युग का समाधान अतीत के सास्कृतिक कोष मे भी है, जैसे 'गीता' मे कल्पान्त का सार-अश। कालावधि से जिस प्रकार मनुष्य का आकार-प्रकार अपने समय का भौगोलिक स्वरूप धारण करता है, उसी प्रकार कला सस्कृति के मूलतन्तु को बनाये हुए, देश-काल का रूपरग ग्रहण करती है।

इसी आधार पर मध्ययुग मे शृगारिक कवियो ने मुस्लिम कला से आदान लिया था, आधुनिक युग मे छायावादी कवियो ने अँगरेजी कला से। अँगरेजी कला बीसवी शताब्दी की विद्युत् की भाँति जगमगाती हुई कला है। किसी भी सजग कला को ग्रहण करने मे हमारी सस्कृति उदार है, अपने को खो देने के लिए नही, बल्कि अपने अस्तित्व को सिन्धु-विस्तार देने

के लिए। अपने मे ग्राह्यशक्ति तभी आती है जव हममे अपनी सस्कृति और कला की क्षमता एक मूलधन के रूप मे बनी रहती है। छायावाद के आधुनिक प्रवर्तको ने अपना मूलधन सस्कृत और हिन्दी-साहित्य से पाया है, नवीन शताब्दी के प्रकाश में नवीन वर्णच्छटा से उसी को रूपाभ दिया है।

साहित्य मे जब-जब आदान चलेगा, तब-तब उस आदान मे अपने मूलधन की ओर सकेत देने के लिए हमारे कुछ पूर्वज कवि हमें अपना सास्कृतिक सन्देश भी सुनाते रहेगे। मध्यकाल में सूर और तुलसी ने सास्कृतिक सकेत दिया, आधुनिक काल में भारतेन्दु जी, गुप्त जी और प्रसाद जी ने; भारतेन्दु और प्रसाद ने अपने नाटको मे और गुप्त जी ने अपनी कविताओ मे। यह अवश्य है कि इन साहित्यिको का सामाजिक ढाँचा पुराना है, जब कि आवश्यकता है सास्कृतिक चेतना धारण करने के लिए नवीन शरीर की भी।

व्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि

विगत युग का सम्मिश्रण—स्वर्गीय रत्नाकर जी व्रजभाषा-काव्य के अन्तिम ऐतिहासिक प्रतिनिधि थे। अतीत के जो प्रतिनिधि, वर्तमान मे उपस्थित होते है, वे न केवल इतिहास के एक सीमित सस्करण-मात्र होते है, बल्कि अतीत का वर्तमान से अभिसन्धि कराने मे वे बीते युग को एक विशेष उत्कर्ष के साथ लेकर उपस्थित होते है। वे युग के सन्देश-वाहक-मात्र होकर नही उपस्थित होते, बल्कि स्वय प्राय. वही युग होकर उपस्थित होते है। उनके द्वारा उनका सम्पूर्ण युग बोलता है। हमारे वर्तमान साहित्य मे रत्नाकर जी के कवित्व मे परिणत होकर उनका वाछित युग बोल उठा था। जब हम यह कहते है कि उनके द्वारा उनका सम्पूर्ण युग बोलता है तो इसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन हिन्दी-कविता जिन अनेक उपादानो से पूर्ण होकर एक युग को परिपूर्ण कर चुकी है, उन सभी उपा-दानो का सयोजन उनकी कृतियो मे यथासभव मिलता है। इसका अभिप्राय यह नही कि प्राचीन हिन्दी-कविता की सम्पूर्ण विशेषताएँ परिपूर्णत उन्ही में निहित होकर केन्द्रित हो गई थी, बल्कि यह कि जिस प्रकार मनुष्य अनेक छोटे-मोटे प्रसा-धनो से युक्त होकर एक खास रूप मे विशेष आचार-विचार

और सस्कृति का समष्टित' परिचय दे जाता है, उसी प्रकार रत्नाकर जी ने अपने काव्यो को अतीत के विभिन्न प्रसाधनो से यथानुरूप सज्जित कर गत युग को मूर्त्त किया था।

हम यह तो नही कह सकते कि उस युग की परिपूर्ण विशेषताओ से रत्नाकर जी ने अपने काव्य को सर्वांगभूषित कर दिया है, परन्तु यह जरूर है कि उन्होने एक युग के काव्य-साहित्य के विशेष-विशेष अलकरणो से (जिनमे अतीत-युग की खास-खास रुचियाँ सन्निहित है)—यथास्थान सुशोभित कर अपने मनोनीत युग को प्रकाशित किया है। उनकी विविध कृतियो को जब हम देखते है तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी कृतियो मे न तो केवल एक रस है और न केवल एक काव्य-पद्धति। रसो के क्षेत्र मे वे न केवल शृगारिक कवियो के प्रतिनिधि है बल्कि वीर-काव्य और रीति-काव्य के कवियो की प्रवृत्तियो के भी समयानुरूप परिचायक है। काव्य-पद्धति मे कही तो वे मुक्तक कवि है और कही प्रबन्ध-काव्य के कवि।

लीरिक कविता—यह बात जरूर है कि रत्नाकर जी की कृतियो मे भक्तिकाल का कोई सन्तोषजनक प्रतिनिधित्व नही दीख पडता। हमारा तात्पर्य भक्तिकाल की केवल ईश्वरोन्मुख भावना से नही, अपितु उस काल की भावनाओं मे सूर और तुलसी के सगीतमय पदो (लीरिक कविताओ) ने जो रसात्मकता पाई, वह रत्नाकर जी से वचित ही रही। रत्नाकर जी मुक्तको और

प्रबन्धो के कवि ता थे किन्तु लीरिक (गीत) कवि नही थे, यदि ऐसा होता तो उनके प्रतिनिधित्व को पूर्णचन्द्र का यश मिलता। लीरिक-कवि होना किसी युग के प्रतिनिधि होने पर ही निर्भर नही, यह तो कवि की हार्दिक रसार्द्रता पर निर्भर है। लीरिक-कविता. काव्य-साधना से अधिक आत्म-साधना की अपेक्षा रखती है। मनुष्य जब वाणी मे ही नही, मन मे भी भीगने लगता है, तब उसका हृदय केवल रस-मात्र रह जाता है, जैसा कि कवि पन्त ने लिखा है—

सुरभि-पीड़ित मधुपो के बाल
पिघल बन जाते है गुञ्जार।

लीरिक-कविता मे इसी प्रकार कवि-हृदय गुजार-रूप हो जाता है, सब तरह से अपने अस्तित्व को विलीन कर रसमात्र रह जाता है। सगीत जब गायनमात्र रहता है तब वह असहाय और काव्य से निर्बल होता है। परन्तु जब गायन को काव्य का सहयोग मिल जाना है तब वह गायन-मात्र न रह-कर सगीत (गीत-सयुक्त या गीत-काव्य) हो जाता है और उसमे काव्य से भी अधिक रसस्पर्शिता आ जाती है। निस्सदेह काव्य को सगीत से उच्च माना गया है, क्योकि काव्य मे लोक-पक्ष अधिक आ जाता है। किन्तु यह लोक-पक्ष जिसके द्वारा रसान्वित होता है, वह हृदय-पक्ष (कवि का आत्मपक्ष) सगीत मे ही एकान्तत विस्फुरित दीख पडता है। सगीत मे हम कवि को पकड़ सकते

है, सारी मिलावटो से अलग करके देख सकते है कि वह स्वयं क्या है, उसकी अपनी आत्मा कितनी व्यजित है। 'राम-चरित-मानस' के अतिरिक्त गोस्वामी जी ने 'विनय-पत्रिका' मे भी अपने हृदय को नि सृत किया, यह उनके कवि (हृदय-पक्ष) की एकान्तता थी। 'रामचरित-मानस' के लोक-समूह मे यदि गोस्वामी जी का आत्मकवि किसी सकीर्तन-मंडली मे सम्मिलित-सा सो गया है (जिसमे सबके अनुरूप ताल-स्वर है) तो 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामी जी की अपनी ही टेक है, उसमे वे आत्मलीन है।

हम ऊपर कह चुके है कि लीरिक-कविता, काव्य-साधना से अधिक आत्मसाधना (आत्मनिमग्नता या एकमात्र हृदय-विदग्धता) की अपेक्षा रखती है। इसके यह माने नही कि सभी लीरिक-कवियो मे आत्मसाधना होती है। जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र मे परम्परा-द्वारा परिचालित होकर अभ्यासत मनुष्य कवि बन सकता है, उसी प्रकार गीत-क्षेत्र मे भी गीतकार हो सकता है, परन्तु गीतो की रस-विदग्धता का परिमाण ही प्रकट कर देता है कि उसमे कितना अभ्यासत (श्रमेण) है और कितना स्वभावत (स्वयमेव) है।

अभ्यासशील कवि—सारांश यह कि रत्नाकर जी मे जितनी काव्य-साधना थी उतनी आत्मसाधना नही। वे जितना एक श्रमनिपुण कवि थे उतना स्वभाव-सिद्ध कवि नही। वे लीरिक

कवि नही है, केवल यह उनका अभाव नही; बल्कि उनकी जो कृतियाँ है उन्ही मे जब हम उन्हें ढूँढते है, तब हम उक्त निष्कर्ष पर पहुँचते है। 'रामचरितमानस' के सगीतकाव्य न होने पर भी जब हम उसमे कवि को ढूँढते है, तव 'विनय-पत्रिका' के गोस्वामी जी 'मानस' मे छिपे नही रहते। परन्तु चाहे आत्मसाधना-सयुक्त हो, अथवा आत्मसाधना-रहित, मनुष्य का प्रकृत या अप्रकृत कोई व्यक्तित्व तो रहता ही है, जैसे प्रत्यक्ष-जीवन मे सभी आत्मसाधक नही होते, फिर भी सबका एक व्यक्तित्व है। ऐसे ही लोक-समूह के भीतर से उठकर जो रत्नाकर जी काव्य-क्षेत्र मे हमारे सामने उपस्थित है, हमे उन्ही पर दृष्टिपात करना चाहिए।

काव्य-शृंखला—कहा जाता है कि 'भक्तो और शृगारिको के बीच की कडी रत्नाकर के रूप मे प्रकट हुई थी।' निसदेह यह कडी रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' और 'हिंडोला' तथा अन्यान्य प्रबन्ध और मुक्तक काव्यो मे स्पष्ट है, परतु यह कडी 'बाँधी' गई है, 'बँधी' नही है। क्योकि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि रत्नाकर जी के कृतित्व मे पिछले खेवे की सभी काव्य-पद्धतियो का सग्रथन नही है, कुछ बन्द छोडकर केवल एक शृखला मिला देने का प्रयत्न है।

वर्तमान युग मे आकर रत्नाकर जी ने देखा कि आज के साथ उनकी रुचि और भावनाओ का कोई सामजस्य सभव

नही जान पडता। जिन सामाजिक और साहित्यिक परम्पराओं मे उन्होने अपने को विकसित किया था, उसे देखते यह सभव था भी नही। अतएव, वे जिन बीते हुए सस्कारो मे से होकर आये थे, उन्ही के 'कल' की ओर लौट पडे। यहाँ उन्हे अपनी काव्य-यात्रा के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिला। वर्तमान युग के भावुक, अतीत के कवियो की एक-एक विशेषता से चिरपरिचित है, यदि उन्ही मे से किसी एक की ही विशेषता लेकर रत्नाकर जी उपस्थित हो जाते तो वे कदाचित् अपने प्रति कोई नवीन आकर्षण न उत्पन्न करते। अतएव, उन्होने सकलन-बुद्धि से काम लिया। वीर-काल, भक्ति-काल, शृगार-काल की भावनाओ का न्यूनाधिक परिमाण मे सकलन कर अपनी भाषा और शैली मे एक निजी व्यक्तित्व स्थापित किया। चीजे वही थी, किन्तु उनका नियोजन समूह-बद्ध था—पुष्प-स्तवक की भाँति। किसी वृन्त पर नाना परिचित पुष्पो को पृथक्-पृथक् देखकर फिर उन्हे उसी रूप मे देखने मे वही आकर्षण नही रह जाता जो आकर्षण उन्हे गुच्छ-रूप मे एकत्र देखने पर होता है। यद्यपि इसमें एक अप्राकृत आकर्षण है। वर्तमान काल मे अतीत के काव्यो के सयोजन से रत्नाकर जी ने यही आकर्षण उत्पन्न किया। इसी लिए हम कहते है कि उन्होने किसी नवीन सृष्टि का नही, बल्कि 'प्रयास' की एक नवीनता का परिचय दिया।

कवि-परिवार—अतीत के जिस कवि-परिवार से रत्नाकर जी वर्तमान युग मे आये थे, वह परिवार बहुत बडा था। रत्नाकर जी उस परिवार मे स्वेच्छानुरूप सम्मिलित थे। व्यक्ति अपने परिवार की लघुता या विशालता से मडित तो रहता ही है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि उसमे अपने परिवार की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हो ही जाती है। उसका एक ससार तो अपने परिवार का रहता है, किन्तु उस ससार मे रहते हुए भी उसका एक स्वनिर्मित संसार भी रहता है। परिवार मे सम्मिलित होकर भी अपने ससार मे उसका एक अपनापन (व्यक्तित्व) रहता है। इसी प्रकार रत्नाकर जी भी अपने विश्रुत कवि-परिवार मे रहकर भी अपनी कृतियो में एक अपनापन छोड गये है। वह किस ससार में है?—हिन्दी के शृगार-युग में, जिसमे माधुर्य-भाव की मुख्यता है। सच तो यह है कि रत्नाकर जी 'हरिश्चन्द्र', 'कलकाशी' या 'गगावतरण' मे उतने नही है, जितने कि 'हिंडोला' या 'उद्धव-शतक' में। 'हिंडोला' और 'उद्धव-शतक' के पद्यो मे उनके मनोवाछित काव्य-ससार का एक मनभावन चित्र है; इनमे उनके हृदय की रसात्मकता का सहज परिचय मिलता है। अपनी अन्य रचनाओ में वे यदि केवल एक शाब्दिक कलाकार है तो 'उद्धव-शतक' और 'हिंडोला' मे एक भावुक कवि भी। इनमें उनकी कला प्रस्फुटित दिखाई देती है।

सूक्ति और भाव—रत्नाकर जी सूक्तियों के कवि है। कथन की वक्रता (चाहे इसके लिए स्वाभाविक कल्पना का अतिक्रमण कर अतिशयोक्ति ही क्यो न करनी पड़े) रीति-प्रेरित कवियो में (जिनमें रत्नाकर जी भी है) अधिक दीख पड़ती है, जिससे भाव का 'अनूठापन' नही, बल्कि कथन का 'अनोखापन' प्रकट होता है। कथन-वैचित्र्य, जो कि नाटयकला की एक विशेषता हो सकता है, काव्य-कला मे सूक्ति बनकर स्थान पा गया है। कुछ अंशो में, प्रबन्ध या संलापात्मक काव्यो में यह नाट्यांश फब जाता है, परन्तु जहाँ भाव द्वारा सीधे हृदय से लगाव की आवश्यकता है, वहाँ इस प्रकार की नाटकीयता एक काव्याभिनय-मात्र मालूम होती है।

प्राय प्राचीन कवियो में भाव की अपेक्षा कथन की ओर इतना झुकाव क्यो है? इसका कारण काव्य को शुद्ध कवित्व की दृष्टि से न देखकर अनेक कलाओ के एक व्यसन के रूप में देखना है। परिणामत काव्य जीवन के रसात्मक स्पर्श की दृष्टि से गौण हो गया और वाग्विनोद या वाग्विलास के रूप में अधिक प्रकट हुआ। इसे यदि हम कुछ अधिक उदार दृष्टि से कहें तो कह सकते है कि किसी युग का विशिष्ट समाज जब परस्पर के हार्दिक वार्त्तालाप से परितृप्ति पा चुका होगा तब उसे कुछ अतिरंजकता की भूख जगी होगी। वही भूख वाग्विदग्धता-द्वारा काव्य में शान्त की गई।

हाँ, वाग्विदग्धता बुरी चीज तो नहीं, किंतु उसका केवल सूक्ति-प्रधान होना शुद्ध कवित्व के लिए बाधक है। वाग्विदग्धता तो सूक्तिमय भी हो सकती है और भावमय भी। भावमय होने पर कवि से आन्तरिक साक्षात्कार होता है और सूक्तिमय होने पर आलकारिक चमत्कार का कौतूहल।

हम यह तो नही कहेंगे कि रत्नाकर जी के काव्यो मे उनका आन्तरिक साक्षात्कार होता ही नहीं, किन्तु इसकी अपेक्षा उनमे चमत्कारजन्य कौतूहल अधिक आकर्षक हो गया है। इसके लिए वे क्षम्य हैं, क्योकि वे केवल स्वय कवि होकर ही उपस्थित नही हुए, बल्कि युगविशेष की एक काव्य-रुचि के प्रतिनिधि होकर भी आये। यद्यपि इस प्रतिनिधित्व मे उनकी रुचि का असामजस्य नही—अनचाहा प्रतिनिधित्व वे ग्रहण ही क्यो करते।

रत्नाकर और पद्माकर—कहा जाता है कि रत्नाकर जी के विशेष प्रिय कवि पद्माकर थे। किसी जमाने मे उन्होने 'रत्नाकर' के बजाय 'कहै पद्माकर' जोडकर कुछ पद्य लिखे थे और लोगो को पद्माकर के ही कवित्व का भ्रम हो गया था। यदि यह बात ठीक है तो सचमुच रत्नाकर जी बडे मनोविनोदी थे।

क्या पद्माकर ही रत्नाकर जी के काव्यादर्श थे? लोकोक्तियो और यत्र-तत्र रत्नाकर जी की पक्तियो से इस बात का परिचय तो मिलता है; 'समालोचनादर्श' मे एक स्थल पर उन्होने लिखा भी है—

सब्द-माधुरी-सक्ति प्रबल मन मानत सब नर,
जैसो हो भवभूति भयो तैसो पदमाकर।

ज्ञात नहीं, भवभूति के साथ पद्माकर को रत्नाकर जी ने किस मौज में रखा है! अन्त्यानुप्रास के लिए या अपनी काव्य-रुचि का आदर्श स्पष्ट करने के लिए? दूसरी बात ही ठीक जान पड़ती है। ये पंक्तियाँ उस समय की हैं जब रत्नाकर जी हमारे काव्य-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान नहीं बना सके थे। अतएव, अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में उन्होंने पद्माकर से स्फूर्ति ग्रहण कर उन्हें अपना काव्यादर्श माना हो और अपने नवोत्साह के कृतज्ञता-वश सदैव उनका गुणानुवाद किया हो तो आश्चर्य नहीं। किंतु इसी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि रत्नाकर जी एकमात्र पद्माकर के अनुगामी थे। पद्माकर से प्रेरित वे अवश्य थे, किन्तु रत्नाकर ने सब कुछ वही नहीं किया जो पद्माकर ने हमारे काव्य-साहित्य को दिया था। पद्माकर से उन्होंने मुक्तक कवित्तों का पद-प्रवाह लिया और वहीं से प्रबंध-काव्य की प्रेरणा भी ली, यह दूसरी बात है कि उन्होंने पद्माकर की तरह 'गंगालहरी' न लिखकर 'गंगावतरण' लिखा। इस प्रकार काव्य की विषय-सामग्रियाँ तो उन्होंने पद्माकर से ही अवश्य पाईं, किन्तु उनमें आत्मा अपनी रखी। इस आत्मा का उत्कर्ष उन्होंने उस कवि के कलादर्श पर किया जो पद्माकर के लिए भी अभिप्रेत था

और अपनी असमर्थतावश पद्माकर उसकी छाया भी न छू सके। 'पद्माकर' का 'राम-रसायन' देखने से ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी के 'रामचरितमानस' की महिमा से प्रभावित होकर 'कवय किं न जल्पन्ति' के अनुसार अपनी पहुँच दिखाने के लिए, प्रबन्ध-कवि बनने के लिए भी वे प्रयत्नशील हुए थे। उनका चपल-प्रयास रत्नाकर जी के कवित्व मे गम्भीररूपेण प्रकट हुआ। इसका कारण यह है कि मध्ययुग के हिन्दी-काव्य की सफलता-असफलता ने रत्नाकर जी को एक विवेक प्रदान कर दिया था और चमत्कार-प्रेमी होकर भी उन्होंने जरा जमी हुई लेखनी से अपनी कृतियाँ लिखी, अतएव वे पद्माकर की कृतियो की तरह चचल या हलकी नही हो गई। रत्नाकर जी ने पद्माकर से जो काव्य-अकुर पाया वह केवल पद्माकर के ही काव्यस्पर्श से नही फला-फूला, बल्कि अपने मनोनीत युग के अन्य वातावरणो से भी उन्होंने काव्यमय अस्तित्व ग्रहण किया। प्राचीन हिंदी-कविता मे विशेष रूप से दो आदर्श प्रचलित थे—एक तो मुक्तक श्रृगारिको का, दूसरा भक्तो का—जिसमें तुलसी, सूर और कबीर प्रमुख हैं। श्रृगारिक कवियों में जो कवि दोनों काव्यादर्शो की ओर चलना चाहते थे उन्ही मे पद्माकर और रत्नाकर थे। भक्त कवियो का आदर्श ग्रहण करते समय उन्हे सूर की अपेक्षा तुलसी ही अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुए, क्योकि उनकी प्रबन्ध-पद्धति को अपनाने

मे अपने मुक्तको का पृथक् बानक बनाये रखने की सुविधा थी। सूर तो मुक्तक पदो के सगीत-कवि है, उनका अनुसरण करने से तो शृगारिक कवियो को अपने मुक्तको का वेश-विन्यास ही खो देना पडता। अतएव, सूर से उन्होने काव्य-कला का बाह्य रूप तो नही ग्रहण किया किन्तु काव्य का माधुर्य-भाव गार्हस्थ्य जीवन के अनुरूप ग्रहण किया, भक्त होकर नही, अनुरक्त होकर। और कबीर का अनुसरण कोई करता ही क्यो, वहाँ तो बात यह थी—'जा घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।'—फिर भला कोई गृहस्थ कवि (शृगारिक) इसके लिए तैयार ही कैसे हो सकता था।

संकलन-बुद्धि—हाँ, तो सूर मे माधुर्यभाव, तुलसी से प्रबन्ध-पद्धति और शृगारिक कवियो से मुक्तक-शैली लेकर रत्नाकर जी ने अपनी सकलन-बुद्धि का परिचय दिया, मुख्यत. एक रीतिकालीन प्रतिनिधि के रूप मे। प्रबन्ध-काव्यो की रचना उन्हे रीतिकाल से अलग करती है, किन्तु वे अलग नही है, बल्कि केशव और पद्माकर की तरह उससे सयुक्त है। यह सतोष की बात है कि रत्नाकर जी, केशव और पद्माकर से उच्च-कोटि के प्रबन्धकवि है। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि रीतिकाल की अपेक्षा उन्होने अधिक नवीन बातें दी। सच तो यह है कि रत्नाकर जी ने उस युग के कवित्व का ही इनलार्जमेंट कर दिया है, उसे गम्भीर प्रसार दे दिया है। उनमे नवीन

विषय, नवीन भाव और नवीन पद-विन्यास नही है। उस प्राचीनता मे यदि कोई नवीनता है तो यह कि उसमे रत्नाकर का अपना बानक है, अपनी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के कवियो को उन्ही के युग में रखकर देखना चाहिए, जैसे किसी इतिहास को उसके वाञ्छित-काल मे रखकर देखा जाता है।

नवीन कविता-प्रेम—यद्यपि रत्नाकर जी खडीबोली की वर्तमान कविता से विशेष सहमत नही थे, तथापि उनकी सहृदयता छन्द-रचना करना ही नही जानती थी, बल्कि मार्मिक भावुकता को भी पसन्द करती थी, चाहे वह किसी भाषा में हो। नवीन युग की हिन्दी-कविता—जिसमे छायावाद की भाव-प्रवणता है—उन्हे भीतर ही भीतर आकर्षित कर चुकी थी, यहाँ तक कि काव्य-सम्बन्धी वार्तालापो में वे प्राय उन कविताओ का जिक्र किया करते थे और बडे चाव से पढ़ते थे।

रत्नाकर जी अँगरेजी से अभिज्ञ तो थे ही, अपनी इस अभिज्ञता का उपयोग उन्होंने यत्र-तत्र अपने काव्यप्रसार मे भी किया है। हिन्दी रीतिकाल की परम्परा और उतनी ही प्राचीन अँगरेजी कविता (जिसे हम क्लासिकल स्कूल की कविता कह सकते है) इन्ही दोनो के समन्वय से रत्नाकर जी व्रजभाषा-साहित्य मे शोभन हो सके थे। यदि पाश्चात्य कविता की उस आधुनिकतम प्रगति से, जिससे आज के अनेक हिन्दी-कवि तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रेरित है, रत्नाकर जी भी प्रेरित होते तो

यह एक कौतूहलपूर्ण बात है कि रत्नाकर जी के काव्य का स्वरूप क्या होता।

छायावादी प्रयोग—रत्नाकर जी चाहे जिन काव्य-प्रेरणाओ से व्रजभाषा-साहित्य मे आये हो, परन्तु थे वे भावुक। एक परम्परा के भीतर रहकर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र भावुकता स्फुरित की है। वर्तमान छायावाद की कविता मे जिस प्रकार के सूक्ष्म भाव-प्रवण साकेतिक शब्दो का प्रयोग दीख पडता है, रत्नाकर जी की कविता में (विशेषत 'गगावतरण' में) भी यत्र-तत्र वैसे ही प्रयोग दृष्टिगोचर होते है। उदाहरण के लिए उनके काव्यो से कुछ उद्धरण—

(१) रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ।
अस्ति-नास्ति के बीच गनित-कल्पित रेखा सौ॥

—'गङ्गावतरण'

'गनित-कल्पित रेखा' से तप कृश शरीर की उपमा आधुनिक है। विहारी भी (जिन्होंने अपने काव्य-चित्रो के लिए अपनी विविध शास्त्रीय अभिज्ञता का प्रचुर उपयोग किया है) विरह-कृश शरीर के लिए इतनी अच्छी उपमा न पा सके।

(२) लगी सारदा प्रेम-पुलकि कलकीरति गावन।
बीना मधुर बजाइ झूमि नूपुर झनकावन॥

लयलीकनि सौं चारु चित्र बहु भाय खिचाये।
रुचिर रागरँग पूरि हृदय दृग लोम लुभाये॥

—'गङ्गावतरण'

इसमे 'लय-लीकनि' (लय की रेखाओ) का निर्देश स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। अमूर्त्त लय का भी रेखा-चित्र हो सकता है, कवि के इस सत्य को आज ग्रामोफोन के रेकार्डो ने प्रत्यक्ष कर दिया है।

(३) भरयौ भूरि आनन्द हृदय तिहि लगे उलीचन।
पौन-पटल पर भव्यभाव अन्तर के खींचन॥

—'गङ्गावतरण'

अन्तर के भावो को 'पौन-पटल' (पवन-पट) पर खीचना कितनी सूक्ष्म व्यजना है! हम जो कुछ कहते है वे आकाश मे खो नही जाते, बल्कि वायु में सुरक्षित रहकर लहराते रहते है, उन्हे ही वैज्ञानिक यान्त्रिक वाद्यो मे सञ्चित कर देते है। अब तो तत्काल के ही शब्द नही, वल्कि बीते दिवसो के अतीत शब्दो को भी वे यन्त्र-सञ्चित कर देने के प्रयत्न मे है। और आश्चर्य नही, कवि जितनी अगोचर कल्पनाएँ करता है, एक दिन विज्ञान उन सबको प्रत्यक्ष कर देगा। इस प्रकार हम देखते है कि कवि की कल्पना भी सत्य है, उसमे मानसिक मिथ्यापन नही। हाँ, कल्पना एक प्रमाणरहित सत्य है, परन्तु यदि प्रमाण के लिए हम विवाद पर ही अवलम्बित होगे तो सत्य अपना सौंदर्य खो

देगा, अनेक वैज्ञानिक बिभीषिकाएँ इसके उदाहरण है। कवि के सत्यो की कसोटी तो सहृदयो की आत्मानुभूति ही होनी चाहिए न।

(४) कहै 'रत्नाकर' गुमान के हिये में उठी।
हूकमूक भायरिन की अकह कहानी है॥

—'उद्धव-शतक'

इसमे 'हूकमूक' (मूक वेदना) द्रष्टव्य है। छायावाद की कविता मूक वेदना और नीरव-गान के लिए बदनाम है, किन्तु रत्नाकर जी का 'हूकमूक' तो एक प्रकार से इन प्रयोगों की व्याख्या-सी कर देता है।

शब्द-चातुरी—रत्नाकर जी शब्दो के प्रयोग मे निपुण है। ऊपर के उदाहरणो के अनुसार जहाँ उनके शब्द एक गूढ साङ्केतिक व्यञ्जना करते है, वहाँ शब्दो की एक सरल व्यञ्जना भी दीख पडती है—

(१) चाहत जौ स्वबस सँजोग स्यामसुन्दर कौ,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहै रत्नाकर सु-अन्तर-मुखी ह्वै ध्यान,
मञ्जु-हिय-कञ्ज जगी जोति में धस्यौ रहै॥

—'उद्धव-शतक'

यह निर्गुण ध्यान के लिए उद्धव का गोपियो को उपदेश है। गोपियाँ 'सु-मुखी' है इसी लिए स्याम 'सुन्दर' को ही चाह रही है।

यदि वे सु-अन्तर-मुखी हो जायँ तो निर्गुण को भी पा जायँ। यहाँ एक चिरपरिचित 'सुमुखी' शब्द का चमत्कार है।

(२) करत उपाय ना सुभाय लखि नारिन कौ,
भाय क्यों अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।

—'उद्धव-शतक'

इसमें 'अनारिन' शब्द की व्यञ्जना पर ध्यान जाता है। यह एक साधारण महावरा है, किन्तु यहाँ इसी में एक बात छिपी है। 'नारिन' और 'अनारिन' के यमक से बात में जान आगई है।

(३) रङ्ग-रूप-रहित लखात सबही हैं हमें,
वैसौ एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
एक ही अनङ्ग साधि साध सब पूरी अब,
और अङ्ग-रहित अराधि करिहैं कहा॥

—'उद्धव-शतक'

इसमें 'रङ्ग-रूप-रहित' का व्यङ्ग और 'अनङ्ग' का श्लेष प्रेक्षणीय है। इस प्रकार के उद्धरण रत्नाकर की कृतियों से बहुत दिये जा सकते हैं।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्यों की बिस्तृत भूमिका पर यदि हम न उतरें तो संक्षेप में यही कह सकते हैं कि प्रबन्ध-काव्यों में कवि की द्वित्वात्मक कला का परिचय अपेक्षित रहता है। एक तो है जीवन-कला, दूसरी है काव्य-कला। कथा-पक्ष कवि-द्वारा जीवन की कला का निदर्शन चाहता है; उपन्यासों, कहानियों और नाटकों

में हम यही निदर्शन पाते हैं, महाकाव्य में इन तीनों का समन्वय हो जाता है। काव्य-कला इन कथाकलाओं के रूखे-सूखे आवरण को एक सगीतपूर्ण मनोरमता प्रदान कर देती है। यह सगीत, रस के अनुसार कहीं कोमल रहता है, कहीं परुष।

'हिंडोला' रत्नाकर जी का एक वर्णनात्मक मुक्तक है, अतएव, 'हरिश्चन्द्र' को ही उनका प्रथम प्रवन्ध-काव्य कहा जा सकता है। रत्नाकर जी की सम्पूर्ण कृतियो को देखने से ज्ञात होता है कि वे मुख्यत· वर्णनात्मक कविता के ही कवि थे, विश्लेपणात्मक कविता(जिसमें वर्ण्य वस्तु की आत्मा 'विकीर्ण होती है) के कवि नही थे। फलत. उनकी सम्पूर्ण कविताओ में दृश्योद्घाटन प्रवान हो गया है, मर्म्मोद्घाटन गौण। दृश्योद्घाटन में निरीक्षण का परिचय मिलता है, मर्म्मोद्घाटन में आत्मद्रवण का।

हरिश्चन्द्र की कथा, चिरविश्रुत लोक-कथा है। जन-सावारण की विदग्धात्मा से यह इतनी मर्म्मस्पर्शिनी हो चुकी है कि अब कोरा कथाकार उसमें कोई नवीनता नही ला सकता। उसमें नवीन प्राण लाने के लिए कवि की सजीवनी '(कविता) की आवश्यकता है।

किसी कथा को यदि हम केवल छंदोवद्ध कर दे तो वह पद्य-प्रवन्ध वन जायगा, किन्तु प्रवन्ध-काव्य नही हो सकेगा। कथा तो प्रवन्ध-काव्य की सरिता का एक ऊपरी किनारा है, उसका

अन्तस्तल है उसका सगीत, उसका ऋजु-कुचित जीवन-प्रवाह और गहन मनोवृत्तियो का भँवर-चक्र । सगीत* के कारण कथा, काव्य के निकट जाती है, जीवन-प्रवाह के कारण उपन्यास या कहानी के निकट और भाव-भंगी के निदर्शन-स्वरूप नाटक के निकट। कथा के परिमाण के अनुसार यह बात विचारणीय होनी चाहिए कि वह एक महाकाव्य होने की अपेक्षा रखती है या खण्डकाव्य मे ही खिल सकती है। इसी प्रकार यह भी ध्यान देने की बात है कि केवल कविता और उपन्यास (या कहानी) के योग से ही वह पूर्ण प्रस्फुटित हो सकती है अथवा उसमे नाट्य का सहयोग भी वाञ्छित है। महाकाव्यों मे (यदि वह केवल भाव-परक नही है तो) साहित्य की इस त्रिवेणी के सगम की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योकि उसमे जीवन की केवल एक सीधी धारा नही, वल्कि अनेक दिशाओं की अनेक घुमी-फिरी धाराएँ वहती है। खण्डकाव्यो मे साहित्य-कला का यह सगम अनिवार्य नही रहता। कवि यदि केवल कवि नही, वल्कि वह कलाभिज्ञ भी है तो वह स्वय निर्णय कर सकता है कि वह कला की इस त्रिवेणी के भीतर से जीवन की मार्म्मिक अभिव्यक्ति कर सकता है अथवा

---

* यहाँ सगीत का प्रयोग व्यापक अर्थ मे किया गया है, काव्य-सम्वन्धी सम्पूर्ण विशेषताओं के लिए।

विगत (परम्परागत) व्यक्तित्व ग्रहण किया है, वहाँ कविता सरस हो गई है। इधर की रचनाओ मे जहाँ भाषा का व्यक्तित्व उनके स्वतन्त्र अनुशीलन से चला है, वहाँ भाषा परुष-गम्भीर है। उसमे पाण्डित्य बहुत आगया है। उसमे ओज है, माधुर्य नही।

रत्नाकर जी की भाषा आलकारिक है। उत्प्रेक्षा, उपमा और सन्देहालकार, भाव-वाक्यो को अग्रसर करने मे ब्रजभाषा की कविता में आमतौर से सहायक रहे है, और वही रत्नाकर जी की कविता में भी पद-पद पर दिखाई पड़ते है। जनु, मनु, ज्यों-त्यो, किधौं, इत्यादि, आलकारिक भाषा के चिरप्रचलित महावरे-से बन गये है। अलकारो मे रूपक-अलकार रत्नाकर जी की कविता मे विरल है।

यह कहा जा चुका है कि रत्नाकर जी की भाषा में पौरुष है। अतएव उनकी भाषा का उत्कर्ष उत्कट रसो (जैसे रौद्र, वीभत्स, वीर) में प्रकट हुआ है। उनका कवित्व भी इन रसो मे अधिक घनीभूत है।

हमारे इन कथनो का स्पष्टीकरण उनके प्रवन्ध-काव्यो के पर्य्यवेक्षण से हो जायगा।

'हरिश्चन्द्र' की लोक-कथा करुणरस का एक श्रेष्ठ आलम्बन हो सकती है। किन्तु रत्नाकर जी करुणोद्रेक मे सफल नही हुए। उनके हरिश्चन्द्र और शैव्या के उद्गारों मे बँधी-बँधाई बात के

सिवा और कुछ है नही, रस-सचार के लिए उनमे कवि की लेखनी आर्द्र नही, स्याही सूखी हुई जान पडती है। हाँ, कही-कही एक-आध करुण वाक्य-खण्ड आगये है जो नन्ही-सी फुहार की तरह हृदय को भिगो जाते है। यथा—

(१) रोवत तऊ देखि तिनकौं लाग्यौ सिसु रोवन।
इनके कबहुँ, कबहुँ उनके आनन-रुख जोवन॥
—'हरिश्चन्द्र'

(२) बिकनि देहु हमहीं पहिलै सुनि विनय हमारी।
जामैं ये दृग लखै न ऐसी दशा तिहारी॥

(३) कह्यौ विप्र सौं 'कीजै क्षमा नैकु अब द्विजवर।
लेंहि निरखि भरि-नैन नाह कौ आनन सुंदर॥
फिर यह आनन कहाँ, कहाँ यह नैन अभागी।'
यौं कहि बिलखि निहारि नृपति-रुख रोवन लागी॥

(४) चलत देखि दुखकृत-विकृत मुख बालक खोल्यौ।
'कहाँ जाति, जनि जाइ माइ'—अचल गहि बोल्यौ।

इन करुण उद्गारो को कवि ने अपनी मार्मिकता से स्पर्श नही किया है, बल्कि जनसाधारण की उक्ति के अनुसार ही इन्हे ग्रहण किया है। अपनी ओर से कवि ने प्रसग को मार्मिक बनाने का प्रयत्न बहुत अल्प परिमाण में किया है।

आगे के उद्धरणो में रत्नाकर जी की कलाकारिता कुछ-कुछ प्रकट हुई है—

इहि विधि ओझल भई दृगनि सौं उत महरानी।
इत आये दृग लाल किये कौसिक मुनि मानी॥

इन वाक्यों मे एक नाटकीय व्यञ्जना है। अभी-अभी पत्नी को विदा देकर हरिश्चन्द्र अपने विदीर्ण हृदय को सँभाल भी नही पाये थे कि रगमञ्च के एक कक्ष से अचानक रक्तनेत्र विश्वामित्र प्रकट हो गये, मानो करुण पर रौद्र का आक्रमण हो गया। इस व्यञ्जना से परिस्थिति कुछ क्षण के लिए करुणतम हो गई है। इसी प्रकार इन पक्तियों में भी—

'याहि बिटप मैं लाइ गरै फाँसी मरि जैहैं।
कै पाथर उर धारि धार मैं धाइ समैहैं॥'
यौं कहि उठि अकुलाइ चल्यो धावन ज्यो रानी।
त्यौं स्वर करि गंभीर धीर बोले नृप बानी॥
'बेचि देह दासी ह्वै तब तौ धर्म्म सम्हारयौ।
अब अधरम क्यौं करति कहा यह हृदय बिचारयौ॥'

इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक दृश्य (जिनसे चिरपरिचित कथा में भी कवि की अपनी एक मनोवैज्ञानिक कला प्रकट होती है) इस काव्य मे विशेष नही।

श्मशान मे मृतपुत्र को देखकर हरिश्चन्द्र ने जो विलाप किया है, उसमे एक ही वाक्य-खड मर्म्मस्पर्शी है—

हाय वत्स! कि न सुनि पुकारि मैय्या की जागत!
अरे मरेहू पै तुम तौ अति सुन्दर लागत॥

यह प्रसग ऐसा था कि, यहाँ रत्नाकर जी को एक करुणा की मन्दाकिनी वहा देने का सुयोग प्राप्त था, किन्तु 'हरिश्चन्द्र' काव्य में कथाकार प्रधान और कवि गौण होने के कारण वे मार्म्मिक स्थलो को चलता-भर कर गये है। इसी लिए श्मशान मे शैव्या से हरिश्चन्द्र-द्वारा कफन माँगते समय भी रत्नाकर जी मर्म्मभेदी नही हो सके। उससे बढ़कर दयनीय प्रसंग करुणा के लिए और क्या हो सकता था! करुणा की अपेक्षा स्थिति की भयानकता को प्रत्यक्ष करने में ही रत्नाकर जी अधिक सफल हुए है। श्मशान का वर्णन इसका एक उदाहरण है। कहा जा चुका है कि परुष भाव ही उनसे खूब वन पाता है। अपने मनोवाञ्छित रस का एक सीधा प्रवाह वे वहा सकते है, किन्तु उस रस-प्रवाह मे छोटी-मोटी अनेक नाटकीय भङ्गिमाएँ न उठा सकने के कारण प्रवन्ध-काव्य (या पद्यप्रवन्ध ?) के ढाँचे में उनके कवित्व का एक मुक्तक आस्वाद ही प्राप्त होता है।

'हरिश्चन्द्र' के वाद 'कलकाशी' रत्नाकर जी का निवन्धकाव्य है। यह विवरणात्मक है, वर्णनात्मक नही। इसमे एक युग की काशी का ऊपरी ढाँचा देखा जा सकता है, किन्तु काशी का अन्त.करण नही। काशी की वस्तुओ, मनुष्यो और कोविदो की इसमे एक खासी लिस्ट है, जो किसी पर्य्यटक के लिए कौतूहल-पूर्ण हो सकती है, किन्तु किसी भावुक के लिए रसात्मक नही। इससे रत्नाकर जी की जानकारी का पता चलता है, विदग्धता का

नही। ज्ञातव्य विवरण और रसात्मक वर्णन का अन्तर नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

आँगन-बीच नगीच कूप के मन्दिर राजत।
जापै चढ़्यौ निसान सान सौं फबि छबि छाजत॥

—'कलकाशी'

देख लो साकेत नगरी है यही—
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही!
केतु-पट अञ्चल-सदृश हैं उड़ रहे
कोटि कलशो पर अमर दृग जुड़ रहे!

—'साकेत'

प्रथम उद्धरण मे किसी नकशे का एक कोना दिखाई पडता है, दूसरे उद्धरण मे हृदय फौवारे की तरह उत्सित हो उठा है। एक मे भावाभिव्यक्ति शून्य है, दूसरे मे इसके लिए भाषा और छन्द भाव-विभोर है। एक मे भाषा और पद-विन्यास है तो दूसरे में एक नाटकीय फडक भी, जिससे चित्र मे सजीवता आगई है।

'कलकाशी' रत्नाकर जी की अपूर्ण कृति है। ज्ञात नही, वे आगे इसे क्या रूप देते। परन्तु 'हरिश्चन्द्र' और 'गगावतरण' से अनुमान किया जा सकता है कि कवि इसे किस ढग पर ले जाता; क्योकि इन तीनो का पद-विन्यास और शैली एक-सी है।

'कलकाशी' के बाद 'उद्धवशतक' रत्नाकर जी का निबन्ध-काव्य है। निबन्ध-काव्य और प्रबन्ध-काव्य मे कुछ अन्तर है।

निबन्ध-काव्य मे मुक्तक भावो की एक सुसगत शृंखला रहती है, किंवा वह कथा-परक ही नहीं, भाव-परक भी हो सकता है।

प्रबन्ध-काव्य प्रधानत कथा-परक रहता है, उसमे किसी समाज और चरित्र की अवतारणा रहती है, यथा, 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास'। निबन्ध-काव्य मे जिस रस की सृष्टि करना कवि को भाव के आश्रय से अभीष्ट रहता है, उसे प्रबन्ध-कवि कथा-द्वारा अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से रत्नाकर जी के 'हरिश्चन्द्र', अगत 'कलकाशी' और 'गगावतरण' प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आते है, 'हिडोला' और 'उद्धवशतक' निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत। अपने निबन्ध-काव्यो मे रत्नाकर जी अपेक्षाकृत मधुर मनोहर है। प्रबन्ध-काव्य उनका उतना सफल क्षेत्र नही।

यह कहा जा चुका है कि, रत्नाकर जी की करुणा और शृंगार भी पौरुषेय है। फिर भी कोमल रसो मे शृगार-रस उनकी लेखनी से सरस हो सका है, कारण, शृगार-रस की प्रशस्त भूमि वे अतीत की परम्परा से पर्य्याप्त सीमा मे पा चुके है; उस परम्परा मे शृगार-रस इतना सम्मान्य है कि उसे रसराज कहा गया है और वह काव्य का पर्य्यावाची-सा हो गया है।

'उद्धवशतक' मे रत्नाकर जी सूर की भाँति ही ज्ञानपक्ष और भावपक्ष, दोनो लेकर चले है। सूर की पहुँच दोनो ही ओर एक समान है, क्योकि वे कवि ही नहीं, बल्कि साधक भी थे; अतएव वे दोनो ही ओर कवित्व ढुलका सके है, जब कि रत्ना-

कर केवल भाव-पक्ष मे ही। ज्ञान-पक्ष में वे कोई अनूठापन नही ला सके, उनके लिए उसमे गुजाइश भी नही थी, सूर ने आत्मानुभूति से ही बहुत कुछ कह दिया था। शृगार की रसिकता सबके के लिए सभव है, उसमे अपनी-अपनी रसानुभूति मे प्रत्येक व्यक्ति नवीन हो सकता है, किन्तु ज्ञान-पक्ष की साधना किन्ही विशिष्ट पुरुषो की आत्मानुभूति पर ही निर्भर है। 'उद्धवशतक' मे रत्नाकर जी के लिए जो सहज-सभव था उसी शृगार-रस मे वे सफलता-पूर्वक पगे है। 'उद्धवशतक' के भाव-पक्ष मे रत्नाकर जी की मस्ती और प्रेम की झडी देखते ही बनती है। यह एक व्यञ्जनात्मक काव्य है, अतएव निरे वर्णनात्मक काव्यो से अधिक सरस है।

'उद्धवशतक' का प्रारम्भ (पटोद्‌घाटन) तो बहुत ही सुन्दर ढग से हुआ है—

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यो जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायो है।
कहै 'रतनाकर' उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौं नैकु नासिका लगायो है॥
त्यौं ही कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायो है।
पाए घरीक द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायो है॥

इस एक लाक्षणिक रूपक मे सम्पूर्ण 'उद्धवशतक' अपनी मुख्य यवनिका बन गया है।

शरत्साहित्य का औपन्यासिक स्तर

(१)

आधुनिक भारतीय साहित्य का इतिहास उन्नीसवी शताब्दी से आरम्भ होता है। नये युग की दीपावली को सजाने के लिए मध्ययुग के भारत की सफाई हो रही थी। फिर भी, मध्ययुग का कुछ अन्धकार और प्रकाश आधुनिक युग के अन्धकार और प्रकाश मे मिल गया। फलत आज भी मध्ययुग की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ एक तमाच्छन्न प्रश्न बनकर आई। मध्ययुग का साहित्य भी अपने समय का मानसिक आलोक होकर विकीर्ण होता आया। मध्ययुग का शेष अन्धकार और प्रकाश राजनीतिक आवरण मे धार्मिक था, आधुनिक युग में उसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी प्राप्त किया। वैज्ञानिक जीवन मे हमारे जीवन मे जो चहल-पहल उत्पन्न की, उसने अति लौकिकता (घोर वास्तविकता) जगा दी, उसने जीवन को काव्य से गद्य मे परिणत कर दिया। फलत. मध्ययुग और आधुनिक युग के सयोग से हमारे साहित्य और समाज ने एक मिश्र-रूप धारण कर लिया। इस मिश्रित युग का समाज हमारे काव्यों और उपन्यासो में प्रकट हुआ। जिन लोगो ने आधुनिक युग से तृप्ति

न ग्रहण कर मध्ययुग से ही जीवन का रस लिया, उन्होंने अपने काव्यो और उपन्यासो मे मध्यकालीन साहित्य को ही बनाये रखा। प्रेम और भक्ति की कविताएँ, धार्म्मिक और ऐतिहासिक कथाएँ तथा सहस्र-रजनी-चरित्र और तिलस्मी उपन्यास इसके द्योतक है। किन्तु जिन्होंने मध्यकाल के साहित्य के साथ ही आधुनिक युग की विचार-स्वतत्रता भी ली, उनकी कृति का एक उदाहरण है माइकेल मधुसूदन का 'मेघनाद-वध'। इसके अतिरिक्त, जिन लोगो ने आधुनिक युग का निमत्रण स्वीकार कर साहित्य-कला का प्रकाशन तो नये युग से लिया, किन्तु जातीय सस्कृति मध्यकालीन बनाये रखी, उनमे बकिम, रवीन्द्र, शरद, प्रसाद, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण उल्लेखनीय है। प्रेमचन्द इस अर्थ मे कि उन्होंने मध्यकाल का हिन्दू-मुस्लिम-मय भारत लिया।

जिन्होंने आधुनिक युग का आरम्भिक स्वागत केवल उसकी लोक-पटुता के औपन्यासिक कौतूहल के वशीभूत होकर किया, उन्होंने जासूसी उपन्यासो को अग्रसर किया। मध्यकालीन जीवन का वैचित्र्य तो केवल उसके इतिहास और किवदन्तियो मे है, किन्तु आधुनिक जीवन का वैचित्र्य (वह कितना लीलामय हो गया है!) केवल इतिहास मे नही, जासूसी उपन्यासो मे भी है। जासूसी उपन्यासों का सृजन, मध्यकालीन रुचि से बहिर्भूत होने के लिए नही, वल्कि उसी समय की एक रुचि का अप-टू-डेट रूप उपस्थित करने के लिए हुआ। प्राचीन समय से बच्चो

और साधारण जनता में अनेक दन्तकथाओ और परियो की कहानियो के रूप में जो आश्चर्य-चकित चाह चली आ रही थी, वह समाज के गद्य-मय जीवन में एक स्वप्न-विश्राम थी। विचित्रता की उसी चाह ने ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासो में एक सयाना रूप पाया था, इसके बाद उसी चाह ने जासूसी उपन्यासो में अपना स्थान बनाया। इस प्रकार कविता के मानसिक जगत् (स्वप्न) से उतरकर गद्य-जीवन ने गद्य में ही विश्राम लेने का अभ्यास पाया। विश्राम और विनोद के अतिरिक्त, जब मनुष्य ने अपने जीवन की कुरूपताओ को भी देखने का अवकाश निकाला तब उसे उसी के जीवन के भीतर से सामाजिक चित्र भी प्राप्त हुए। शरद के उपन्यास भी वही चित्र है।

हाँ, तो मध्ययुग की शेष सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ आधुनिक युग की दीपावली में भी अमावास्या का निविड प्रश्न बनकर आई। यथा—हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न, अनेक सामाजिक सुधार, देशी रियासतो का सवाल, इत्यादि। यह वे प्रश्न है, जिन पर गाधी-युग आने के पूर्व तक वर्तमान शासन-तत्र की निरपेक्ष दृष्टि रही। सदियो से निपीडित हिन्दू-समाज भी आत्मरक्षा के लिए इस आधुनिक युग में चैतन्य हुआ। बगाल जब विजातियो-द्वारा नारी-निर्य्यातन और पाश्चात्य सभ्यता के प्रसरण की रङ्गभूमि बन चला तब ऐसे समय में बकिम ने अपने उपन्यासो तथा विविध कृतियो-द्वारा हिन्दू-जीवन तथा पाश्चात्य

सभ्यता के प्रवाह में बहते हुए भारतीयों को संस्कृति-रक्षा का मंत्र फूंका। इसके बाद रवीन्द्रनाथ ने हमारे गार्हस्थिक जीवन के भीतर काव्य की तरह प्रवाहशील रोमांस और ट्रेजडी को लेकर उपन्यास लिखा। बंकिम के बाद जो धार्मिक और राष्ट्रीय हल-चलें उत्पन्न हुई, उन पर भी अपने 'घरे-बाहिरे' और 'गोरामोहन' नामक उपन्यासों तथा अन्य कृतियों-द्वारा उन्होंने प्रकाश डाला। रवीन्द्रनाथ बाह्यत. ब्राह्मसमाजी होते हुए भी अन्तत: वैष्णव संस्कृति की मुखरता के उपासक हैं। जिस प्रकार रवि बाबू ने शान्तिनिकेतन में भारतीय कलाओं को आधुनिक रूप दे दिया है, उसी प्रकार अपने साहित्य में वैष्णवता को भी। उनके साहित्य में आद्यन्त जो सुर बज रहा है, वह वैष्णवीय ही है। स्वयं उनकी प्रतिभा ही राधा है, वैसी ही आशा, उत्कंठा, सौन्दर्याकुलता और भगवद्भक्ति लिये हुए; मानो कहती है—'तोमार मधुर प्रीति बहे शतधार।'

रवीन्द्र के बहुत बाद बंगाल के उपन्यास-साहित्य में शरच्चन्द्र का उदय हुआ। प्रतिभा के अधिष्ठान की दृष्टि से रवीन्द्र और शरद में उतना ही अन्तर है, जितना प्रसाद और प्रेमचन्द में। जहाँ रवीन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी है, वहाँ शरद नहीं है; और जहाँ शरद की प्रतिभा एकच्छत्र है, वहाँ रवीन्द्र नहीं है। संस्कृति की दृष्टि से शरद में बंकिम और रवीन्द्र के दृष्टिकोणों का एकीकरण है। बंकिम की भाँति हिन्दू-धर्म के प्रति अनन्य

अनुराग रखते हुए शरद, रवीन्द्र की आध्यात्मिक सार्वभौमिकता के पुजारी है। इसी लिए जहाँ अपने उपन्यासो मे शरद आध्यात्मिक भावो को प्रकट करते हैं, वहाँ वे मानो रवीन्द्र के कवित्व को ही प्रस्फुटित करते है।

निदान, बकिम ने हिन्दू-जीवन को जगाया, रवीन्द्र ने उस जीवन के काव्य-रस को, शरद ने उस जीवन की गार्हस्थिक समस्या को। बकिम के प्रच्छन्न लक्ष्य को शरद ने प्रत्यक्ष किया। यही एक और बात भी स्पष्ट हो जाय। शरद के पूर्व के उपन्यास-साहित्य मे राजा-रईस, प्रेमी-प्रेमिका, समाज और शासन था। किन्तु उपेक्षितों और कलकितो के लिए कोई सहृदय-मनोविज्ञान नही था। शरद ने अपने साहित्य मे इसी को प्रधान बनाकर दिया। शरद के लिए चरित्र का माप छोटे-बडे, अमीर-गरीब या जस-अपजस मे नही है, बल्कि अन्तरात्मा मे विद्यमान 'मानव' में है। यदि वहाँ 'दानव' नही है तो वह शरद से अभ्यर्थित है, चाहे गरीब हो या धनी। उनके लिए 'मनुष्य' पोशाक या वेशभूषा अथवा सम्पन्नता और निर्धनता मे नही है, बल्कि अपने निगूढतम प्रदेश मे है। वहाँ मानवता-रहित वस्त्राच्छादित-मनुष्य शरद की दृष्टि मे कफन मे लिपटा हुआ जीवित जघन्य शव हो सकता है।

(२)

शरद बाबू की सम्पूर्ण कथा-कृतियो की कुञ्जी 'श्रीकान्त' है, जैसे रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कृतियों मे 'गौरमोहन'। ये

दोनो ही उपन्यास अपने-अपने विचारो के ग्रामर है। शरद की सम्पूर्ण विचार-धाराएँ और सम्पूर्ण पात्र-पात्रियाँ 'श्रीकान्त' मे ही है। इसी उपन्यास के दृष्टिकोणो और इसी उपन्यास की पात्र-पात्रियो ने विविध कृतियो मे विविध रूप पाया है। इसे देखने से ज्ञात होता है कि इस उपन्यास को लिखते समय वे उस साहित्यिक युग मे खडे थे, जिसमे सनसनीदार बातो के बिना उपन्यास, उपन्यास ही नही समझे जाते थे। फलत· इस उपन्यास का प्रारम्भ उन्होने रोमाञ्चकर घटनाओ से किया है। प्रारम्भ से ही एक-पर-एक विकट घटनाओ का घटाटोप है। वज्रवत् विक-राल घटनाचक्र को लेकर यह उपन्यास अग्रसर हुआ है। प्रथम परिच्छेद मे ही इतनी आकस्मिक घटनाएँ है कि द्रुतगति से बदलते हुए विद्युत्पट की तरह हमे चकित कर जाती है। यद्यपि प्रथम परिच्छेद के बाद उपन्यास अपेक्षाकृत शिथिल गति से चला है, इस उपन्यास की भग्न-स्मृतियों की तरह ही, तथापि शरद इस विशेषता के सूत्रधार है कि हैरत-अगेज उपन्यासो के प्रवृत्तिकाल मे उन्होने प्रत्यक्ष जीवन के रोमाञ्चकर पक्ष को उपस्थित कर पाठको की रुचि को 'श्रीकान्त' द्वारा ठोस बनाया।

'श्रीकान्त' मे समाज और स्वदेश की उन सभी समस्याओ, आवश्यकताओ और राष्ट्रीय दृष्टिकोणो का समावेश है, जिन्हे हम आज बापू के रचनात्मक कार्यो मे प्रत्यक्ष देखते है, यथा—ग्रामोद्धार, अछूतोद्धार, वेश्याओ के प्रति सहानुभूति, स्वाधीनता

की आकाक्षा, सास्कृतिक चिन्तना इत्यादि। ये वे राष्ट्रीय उपादान हैं, जिन्हे स्वदेशी-आन्दोलन की जागृति मे बगाल ने पाया था और जो आज बापू के सुसगठन मे अखिलभारतीय हो गये।

'श्रीकान्त' का मूल बँगला नाम है—'श्रीकान्तेर भ्रमण-काहिनी'। इस नाम से ही इस उपन्यास का एक नकशा खिच जाता है। भ्रमण-वृत्तान्त के रूप मे यह एक विशिष्ट-पात्र की आत्म-कथा है, ऐसे पात्र की, कि जिसने किशोरवय से ही कठिन दुस्साहस का कवच पहनकर जीवन के साथ खेल खेला है। 'राविन्सन क्रूसो' जिस कौतूहलाक्रान्त मनोवृत्ति के वशीभूत होकर किशोरवय से ही भ्रमणशील हो गया था, वही प्रवृत्ति 'श्रीकान्त' मे भी है। किन्तु राविन्सन क्रूसो का भ्रमण-क्षेत्र श्रीकान्त से भिन्न है। राविन्सन क्रूसो ने जङ्गल में मङ्गल मनाया था एव अपने बौद्धिक चमत्कार से घूम-फिरकर उसने पुन उसी समाज मे विश्राम लिया, जहाँ से वह चला था। वह तो एक सैलानी था, उसके भीतर भौगोलिक नवीनता की प्यास थी; फलत पर्वतो ने, समुद्रो ने, अरण्यो ने उसकी शक्ति और साहस की आजमाइश की। किंतु श्रीकान्त सैलानी नही है, वह तो एक पथिक है—जीवन की राह का पथिक। बढी हुई नदी, भयानक श्मशान, सघन अन्धकार एव रोग, शोक, अत्याचार, प्रतीकार, ये सब उस जीवन-यात्री की सुरङ्ग की दीवारे और छत है। इनके भीतर वह सामाजिक धरातल पर भ्रमण कर रहा है।

उसे राह मे विभिन्न सहचर मिलते जा रहे है, सबके सुख-दुख की कहानियाँ उसके जीवन के सूत्र में गुँथती जा रही है। उन्ही अनेक छोटी-बडी कहानियो का यह हार है। अनेक मानवी सवेदनो की सूची से यह हार गुम्फित है, इसमे इतनी पीडा, इतनी कसक है कि हृदय सिहर उठता है, प्राण करुणार्द्र हो जाते है। आज की मिथ्या सामाजिक गुरुता और उसके पाँवोतले कुचले हुए कुसुम-कोमल हृदयो की विचूर्णित मनुष्यता का यह उपन्यास बहीखाता है। शरद बाबू ने इसे जिस स्याही से लिखा है, उसमे अनेक रसो का मिश्रण है—रौद्र, भयानक, हास्य, शृङ्गार, करुण।

शरद के विदग्ध प्राणो ने देखा कि हमारे सामाजिक जीवन मे क्या कम सनसनी है! यहाँ जो है वह केवल समाचार-पत्रो के तात्कालिक आकर्षण की चीज नही, बल्कि चिरन्तन मनुष्य की चिरन्तन समीक्षा और सहृदयता की वस्तु है। उसी प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन को लेकर शरद ने धार्म्मिक (नैतिक) भारत को तथा प्रेमचन्द ने आर्थिक (राजनैतिक) भारत को अपने उपन्यासो में दिखलाया। शरद की समस्या सामाजिक परिस्थितियो से उत्पन्न होती है, प्रेमचन्द को आर्थिक परिस्थितियों से; इसी लिए जब कि शरद का दृष्टिकोण सास्कृतिक है, प्रेमचन्द का विशेषत राष्ट्रीय। भारत का सामयिक राष्ट्रीय इतिहास प्रेमचन्द मे है, भारत का सामाजिक विश्वास शरद मे। साहित्य मे भारत के बाह्य (राष्ट्रीय) शरीर प्रेमचन्द, अत-

शरीर (सामाजिक) शरच्चन्द्र हैं। दोनो को मिलाकर हम साहित्य में गावो के भारत (सास्कृतिक राष्ट्र) का दर्शन पा सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ ने प्रेम और भक्ति की कविताओ से तथा शरद ने धार्म्मिक कथाओ से निर्म्मित भारत को प्रस्फुटित किया। प्रेमचन्द की भाँति शरद ने भी उस ठेठ (ग्रामीण) भूमि को प्राणान्वित किया, जहाँ भारत का हृदय है, इस स्वाभाविकता से कि मानो स्वय भुक्तभोगी हो। प्रेमचन्द की इकाई यू० पी० का देहाती समाज है, शरद की इकाई बगाल का देहाती समाज। यू० पी० और बगाल की भाषा मे जितना अन्तर है, उतना ही प्रेमचन्द और शरद की कला के व्यक्तित्व मे भी। शरद और प्रेम-चन्द के कला-सौन्दर्य मे बँगला और खड़ी बोली का अन्तर है। शरद का बँगला व्यक्तित्व न तो ब्रजभाषा की भाँति एकदम क्लासिकल है, न खडी बोली की भाँति एकदम आधुनिक, उसमें दोनों के बीच का व्यक्तित्व है—एक मधुर ओज। स्वभावत. शरद को कला में वगीय सरसता अधिक है, जो कि उन्हे पूर्ववर्त्ती महान् साहित्यिको से उत्तराधिकार मे प्राप्त है, जब कि प्रेमचन्द को अपनी दिशा मे कोई उत्तराधिकार हिन्दी से नही प्राप्त हुआ। प्रेमचन्द की कथा में उनके विचारो के कारण पाठको को प्रवाह के बीच-बीच मे रुकना भी पडता है, मानो प्रेमचन्द मे एकाएक उत्पन्न हिन्दी की नवीन औपन्यासिक कला अपना पथ-सन्धान कर

रही हो। किन्तु शरद की कथा बिना किसी रुकावट के बडी सहज गति से बहती चली जाती है, मानो उसका क्षेत्र पूर्वप्रस्तुत हो। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रेमचन्द की कला मे नवीन औपन्यासिक सूत्रपात देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के बाद होता है, जब कि शरद के पूर्व बकिम और रवीन्द्र ने उपन्यासो का आधुनिक बैकग्राउड दे दिया था।

हाँ, प्रेमचन्द का लक्ष्य जब कि विचारोद्रेक रहता है, शरद का लक्ष्य रसोद्रेक। एक मस्तिष्क को जगाता है, दूसरा हृदय को। हमारे यहाँ एक खास औपन्यासिक दिशा (किस्से-कहानियो और तिलस्मी उपन्यासो) मे रसोद्रेक काफी हो चुका था, किन्तु समाज का विवेक सोया ही हुआ था, प्रेमचन्द का साहित्य विचार-प्रधान होकर उसी विवेक को जगाने का आरम्भिक प्रयत्न है। आज जब कि सार्वजनिक जागृति-द्वारा सामाजिक विवेक बहुत कुछ जग चुका है, उसके भीतर नवीन रसोद्रेक की भी आवश्यकता है, हृदय को कुरेद देने की जरूरत है। इस दिशा मे शरद की कला एक आदर्श है। शरद और प्रेमचन्द, दोनो ही ठेठ-नागरिक कलाकार थे। नागरिक थे, इसलिए कला में आधुनिक है, ठेठ थे, इसलिए उनमे भारतीय हृदय की स्वाभाविकता है।

प्रेमचन्द के साहित्य में अधिकाशत मनोविज्ञान की एक सीधी और ऊँची लहर उठती-गिरती है, इसी प्रकार उनके

चरित्रो मे भी एक सीधा उत्थान-पतन है। किन्तु हमारे जीवन मे उत्थान-पतन के अतिरिक्त बीच मे कुछ और भी है। उत्थान-पतन ही जीवन नही है, इनके बीच मे जीवन एक भूलभुलैया भी है। यही भूलभुलैया शरद के 'देवदास', चरित्र-हीन' और 'श्रीकान्त' मे है, उनमे मनोविज्ञान की तरङ्गे, सीधे ऊपर नीचे उठती-गिरती ही नही, बल्कि बीच मे मूर्च्छना भी लेती है, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओ के प्रति एक जिज्ञासा जगा जाती है।

प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र दोनो ही उपेक्षितो के लिए सहानुभूतिशील है, किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि प्रेमचन्द पतित को उस उत्थान तक ले जाते है, जहाँ पहुँचकर वह नीतिनिष्ठ बन जाय, इधर शरच्चन्द्र चरित्र को उस मूर्च्छना मे उपस्थित करते है, जिसके लिए समाज मे कोई उपचार नही है। यदि उपचार होता तो वे चरित्र सुखी होकर इसी समाज को स्वर्ग बना देते। अन्तत प्रेमचन्द के चरित्र का उत्तरदायित्व व्यक्ति के ही ऊपर रहता है, शरद के चरित्र का उत्तरदायित्व समाज के ऊपर। इसी लिए प्रेमचन्द के चरित्र समाज के सुझाये हुए चिरअभ्यस्त आदर्शो मे एक नेकनाम होकर चलना चाहते है, किन्तु शरद के चरित्र समाज की विकृतियो मे बदनाम होकर उसके रूढ छद्मावरण का पर्दा फाश करते है।

शरद ने जिस समय अपने उपन्यासो का प्रारम्भ किया, उस समय तक समाज का प्रश्न राष्ट्रीय बनकर नही आया था।

राष्ट्रीय पैमाने पर वह गाधी-युग मे आया। इससे पूर्व समाज का प्रश्न नैतिक ही बना हुआ था। हाँ, देश राजनीतिक सुधारो के लिए लड रहा था, किन्तु सामाजिक सुधारो का कार्य सामाजिक पैमाने पर ही हो रहा था। दयानन्द (आर्यसमाज) और केशवचन्द्र सेन (ब्राह्मसमाज) ने एक सामाजिक जागृति उत्पन्न कर दी थी। अपने यहाँ प्रेमचन्द इस नवीन जागृति की ओर बढे, फलत 'सेवा-सदन' मे हम उनकी आर्यसमाजी चेतना पाते है। उनकी इसी नवोन्मुख सामाजिक प्रगति ने आगे चलकर उन्हें राष्ट्रीय बना दिया, जहाँ हिन्दू-समाज के बजाय राष्ट्रीय समाज उनके सामने आया। इस प्रकार नैतिक और राजनैतिक क्षेत्र के वे लेखक रहे। यहाँ प्रेमचन्द का दृष्टिकोण राष्ट्रीय तो बना, किन्तु नैतिक दृष्टिकोण परम्परावद्ध है। इधर शरद का गार्हस्थिक आदर्श तो हिन्दू-सस्कृति से ओत-प्रोत है किन्तु नैतिक दृष्टिकोण परम्परावद्ध न रहकर नवीन मनोवैज्ञानिक समस्याएँ उपस्थित करता है। शरद ने गार्हस्थिक जीवन के पौराणिक मूलाधार को बनाये रखकर उसकी विकृति के सुधार का सकेत दिया। लकीर के फकीर वे नही थे, किन्तु भारतीय गार्हस्थिक जीवन के अवशिष्ट शुभ चिह्नो को मिटाकर वे कोई ऐसी नई लकीर भी नही खीचना चाहते थे जिससे जीवन का प्रिय सञ्चय खो जाय।

शरच्चन्द्र नीति और राजनीति को लेकर नही, बल्कि उस सामाजिक अनीति के प्रति असन्तोष लेकर चले जिसके कारण

चिर सुन्दर गार्हस्थिक जीवन विलीन हो रहा है। शरद मध्यकालीन हिन्दू-गृहस्थो के उपन्यासकार है, उनके अभाव-अभियोग, सुख-दु ख, आशा-आकाक्षा, आचार-विचार और क्षमता-विवशता की मुक्तवाणी है। वे उनकी सतह पर आकर ही उन्हें उठाना चाहते है। शरद की सास्कृतिकता एकजातीय अवश्य है, किन्तु उनकी मनोवैज्ञानिकता विश्वजनीन है। जिस प्रकार वे मुख्यत निकृष्ट-तम 'कलकितो' के 'शरच्चन्द्र' है, उसी प्रकार साधारणतम गृहस्थो के आवेदन-क्रन्दन। वे चिरवैष्णव है। तत्कालीन (ब्राह्मसमाजी) सामाजिक चेतना मे उन्होने इस बात का प्रयत्न किया कि उस जागृति से रूढिवादी समाज विवेकशील बने, किन्तु नूतनता के आवेग मे अपना चिरसचित सामाजिक सौन्दर्य (सास्कृतिक घरेलूपन) न खो दे। शरद जिन चरित्रो के लिए समाज में सहानुभूति और स्थान चाहते है, उनका समाज से पृथक् निर्वासित उपनिवेश नही वनाना चाहते। विभाजन नही, सयोजन चाहते है, प्राचीन सस्कृति के सुरक्षण के अर्थ उसका नवीन आयोजन चाहते है। उन्होने दिखाया है कि समाज में जो विकार आगया है, वह हमारी सस्कृति की विकृति नही, वल्कि विवेक-हीनता (रूढिपरता) की विकृति है। इसके लिए समाज-सस्कार की आवश्यकता है, न कि सस्कृति से निष्कृति की। सस्कृति मनोविज्ञान से प्रादुर्भूत है। समाज का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण जब से सो गया, तभी से उसमें

प्रकाश (विवेक) के बजाय अन्धकार आगया । धर्मान्ध समाज के भीतर उसी प्रसुप्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को जगाने की आवश्यकता है, ताकि नई परिस्थितियो के लिए वह इतना विस्तीर्ण हो कि उसके उत्पीडित बहिष्कृत चरित्र भी उसमें जीवन पा जायँ। 'श्रीकान्त' मे अभया कहती है—'ससार के सभी स्त्री-पुरुष एक साँचे मे ढले नही होते, उनके सार्थक होने का रास्ता भी जीवन मे केवल एक नही होता। उनकी शिक्षा, उनकी प्रवृत्ति और मन की गति एक ही दिशा मे चलकर उन्हे सफल नही बना सकती। इसी लिए समाज में उनकी व्यवस्था रहना उचित है।

(३)

शरद पूर्ण पौराणिक आदर्शवादी है। 'चरित्र-हीन' की सुरबाला, 'पण्डित जी' की कुज, 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी, मानो शरद की ही वैष्णवी आत्माएँ है। किन्तु उनकी पौराणिकता में एक सरल आधुनिकता है, जो ज्ञानान्ध-वैज्ञानिकता से भिन्न है। हिन्दू-धर्म के साधना-पूत स्वरूप पर उनकी चिर-श्रद्धा है। इस विषय मे वे विश्वासपरायण निश्छल गृहस्थो-जैसे है। किन्तु इसके आगे शरद एक आधुनिक द्रष्टा भी है, धर्म के रथ को वे देशकाल के पथो की सूचना भी देते है। इसी लिए शरद की वैष्णवता कट्टर सनातनियो की भाँति सकीर्ण नही। उनकी वैष्णवता को हम गाधी-टाइप की वैष्णवता कह सकते है, जो

प्राचीन आचार-विचारो के स्वच्छ रूप को पसन्द करती है, धार्मिक दम्भ हटाकर। हाँ, तो शरद भी वैष्णव है, महात्मा भी वैष्णव है, किन्तु महात्मा और शरद की वैष्णवता मे नीतिमान् और कलाकार का अन्तर भी है। कला के क्षेत्र मे प्रेमचन्द महात्मा के नैतिक अनुयायी थे, शरद, रवीन्द्र के साहित्यिक अनुगामी। कलाकार के स्थान से रवीन्द्रनाथ अपने काव्यो मे जितने वैष्णव है, उतना ही शरद अपने उपन्यासो मे। हाँ, रवीन्द्र की वैष्णवता निर्गुणवत् प्रच्छन्न है, शरद की सगुणवत् प्रत्यक्ष।

महात्मा के लिए निग्रह ही सब कुछ है, किन्तु कलाकार शरद मानव-चरित्र को निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण से ही नही देखते, बल्कि उनके चरित्रो मे प्रवृत्तियो का वैचित्र्य भी है। महात्मा की उदारता यह है कि पतितो के लिए उन सभी असुविधाओ को, जो किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक कारण मे है (क्योकि आज बेकारी का कारण जैसे वैयक्तिक नही, सार्वजनिक है, उसी प्रकार चरित्र-हीनता का सार्वजनिक कारण भी सभव है), महात्मा अपने रचनात्मक कार्य्यों-द्वारा दूर करने को तैयार है। शरद का भार यही हलका हो जाता है, इसी सदुद्देश्य के लिए वे चरित्र-चित्रण करते चले आ रहे है। शरद यही चाहते थे कि तिरस्कृतो के लिए भी क्षेत्र (समाज में रहने का ठौर-ठिकाना) मिले, बिना इसके उनकी आलोचना करना विडम्बना है। इसी लिए शरद उनकी

आलोचना नही, बल्कि उनके लिए सहानुभूति उत्पन्न करने मे लगे हुए थे। एक बात और। पतितो (चरित्र-स्खलितो) का प्रश्न केवल सामाजिक नही, मानसिक भी है। समाज मे स्थान पा जाने पर भी पतितो मे स्खलन सभव है, क्योकि वे यन्त्र नही, मनुष्य है। समाज का आदर्श उन्हे दुतकारे नही, अपनी सहानुभूति से ही उनमे परिवर्त्तन करे, यह शरद की टेक है। 'श्रीकान्त' मे एक स्थान पर वे कहते है—"एक आदमी दूसरे के मन की बात को यदि जान सकता है तो केवल सहानुभूति और प्यार से, उम्र और बुद्धि से नही। ससार मे जिसने जितना प्यार किया है, दूसरे के मन की भाषा उसके आगे उतनी ही व्यक्त हो उठी है। यह अत्यन्त कठिन अन्तर्दृष्टि सिर्फ प्रेम के जोर से ही प्राप्त की जा सकती है, और किसी तरह नही।"—यही शरद की औपन्यासिक परिणतियां (चारित्रिक सन्धियो) का मनोवैज्ञानिक पहलू है, जो उलझनो को अकस्मात् सुलझा देता है और पाठको के मन मे समझने के लिए एक सूक्ष्म 'अडर लाइन' छोड जाता है। महात्मा की भाँति शरद भी आक्रोश के नही, प्रेम के प्रार्थी है। किन्तु दोनो के दृष्टिकोणो मे एक अन्तर भी है। महात्मा आदर्श को कूत कर (सब मिलाकर) देखते है। शरद, कलाकार के नाते अलग-अलग उसकी बारीक तहों, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक पह-लुओ को रखते है। महात्मा की भाँति वे चरित्रो को केवल

नैतिक मापदण्ड से ही नही, वल्कि मनोवैज्ञानिक-कन्सेशन देकर देखते है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य, संगमर्मर का देवता ही नही है, हाड-मास का हृत्पिण्ड भी है, उसमे निवृत्ति ही नही, प्रवृत्ति भी है। यह प्रवृत्ति पाशविक नही, मानव-आकाक्षाओ के नैसर्गिक कवित्व से प्रसूत है। वापू जिस आदर्श को कूतकर देखते है, उस आदर्श तक पहुँचना हमारी संस्कृति का लक्ष्य है; साथ ही शरद के उन मनोवैज्ञानिक पहलुओ को भी हमे चरित्रो के व्याकरण के रूप मे ग्रहण करना होगा, जिनके द्वारा स्खलितो को अपनाकर हम वापू के महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकते है।

जहाँ तक संस्कृति का प्रश्न है, शरद क्लासिकल है, और जहाँ तक नूतन चरित्र-कला (उपन्यास) का सम्बन्ध है, शरद रोमांटिक कलाकार है। अपने यहाँ गुप्त जी की धार्म्मिक पौराणिकता तथा 'कंकाल' और 'तितली' के उपन्यासकार 'प्रसाद' की मनो-वैज्ञानिक चारित्रिक आधुनिकता तथा प्रेमचन्द की ठेठ स्वाभाविकता, इन सबके संयोजन से शरद के कलाकार का आभास मिल सकता है। आदर्शवाद और यथार्थवाद की तरह ही शरद क्लासिसिज्म और रोमान्टिसिज्म के भी संयोजक है।

(४)

शरद के उपन्यासो मे नारी-हृदय की वेदना, करुणा, ममता और त्याग की प्रधानता है। इन्ही के द्वारा वे उद्धत एवं

बर्बर पात्रो को भी सहृदयता के स्नेह-सूत्र मे सहज ही बाँध लेते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासो मे नारी-हृदय को ही आदर्श मानकर प्रस्फुटित किया हैं। जान पडता है, शरद बाबू को अपने सुख-दुखमय दीर्घ जीवन मे नारी-हृदय की महान् करुणा-ममता का ही बोध अधिक हुआ है, उन्ही के प्रेमामृत को बाँटकर वे पीडित मानव-समुदाय को सम्बल दे गये हैं। हम कहे, उनके सम्पूर्ण सामाजिक उलझनो का सुलझाव नारी-जीवन की समस्या के हल मे ही हैं, इसी के लिए वे विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। इस सम्बन्ध मे उन्ही के शब्द—"मैंने अपनी जिन्दगी का अधिक हिस्सा Sociology पठन-पाठन मे ही गँवाया है। देश की प्राय सभी जातियो को बहुत निकट से देखने का सौभाग्य भी मुझे मिला हैं। मुझे तो जान पड़ता है कि नारी-जाति का हक जिसने जिस हिसाब से नष्ट किया है ठीक उसी अनुपात से क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या नैतिक सब तरफ से ही वह उतना ही क्षुद्र हो गया है।"

शरद ने जैसे कलकितो को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा है, उसी प्रकार नारी के चरित्र को भी। पुरुष या स्त्री किसी के भी चरित्र को वे समाज के चिरअभ्यस्त चारित्रिक दृष्टिकोण से नही देखते, वे देखते हैं मुख्य वस्तु मानवता का विकास, जिसे उन्होंने एक भाषण मे नारी-चरित के प्रति यों कहा है—"सतीत्व को मै तुच्छ नही समझता। किन्तु इसी को नारी-जीवन का चरम

और परम श्रेय अनुभव करने को भी मैं एक कुसंस्कार ही समझता हूँ। क्योंकि, मनुष्यत्व प्राप्त करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म एवं जन्मसिद्ध अधिकार है। यह सब बाद देकर जो भी शख्स जिस किसी भी एक गुण को बड़ा बनाने जायगा, वह खुद दूसरों को ठगेगा और ठगायेगा भी। वह दूसरे को मनुष्य नहीं होने देता और खुद ही अनजान में मनुष्यत्व को क्षुद्र बना डालता है।"

हाँ, तो शरद ने जीवन का स्रोत, युग-युग से कर्दथित पद-दलित नारी के अंतःकरण में ही बहता हुआ देखा है। एक दिन पुरुष ने पाषाणी अहल्या का उद्धार किया था, किन्तु आज पुरुष ही जीवन-शून्य पाषाण हो गया है। कारण, पुरुष ने अपनी साधना छोड़ दी, नारी धर्म्म को अचल मानकर अपनी साधना बनाये रही, वह समाज के अधारभूत नियमों को धर्म्म मानकर गहे रही, जब कि पुरुष ने उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने की अपेक्षा अपने कदाचारों से उसे पंगु एवं निष्प्राण कर दिया। शरद की नारी जीवन के शाश्वत विश्वासों की धरोहर सँजोये हुए है, आवश्यकता है समाज-द्वारा उनके सदुपयोग की। आज युगों से नारी, पाषाण-पुरुष के स्तर-स्तर को अपने आँसुओं की झिरझिरी में आर्द्र करती आ रही है—अरे, कभी तो यह जड़ सजीव हो जाय, कभी तो चैतन्य हो जाय।

शरद ने श्रीकात मे नारी की सार्वजनिक शक्ति को अन्नदा जीजी, राजलक्ष्मी और अभया की क्रमश करुणा, ममता और समवेदना मे प्रोज्ज्वल किया है। ये तीनो अपने अपने व्यक्तित्व मे सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा है, जीवन को सार्थक करने के लिए तीनो के मार्ग अलग-अलग है। किन्तु समाज मे जब अविचार और कदाचार बहुत बढ जाता है, तब अभया की तरह अभय होकर उसके विरुद्ध विद्रोह किये बिना नारी-जाति का निस्तार नही। इसी लिए शरद ने नारी के आदर्श को किसी एक केन्द्र मे सकुचित न कर उसे यथाप्रसग प्रस्फुटित होने का अवसर दिया है।

शरद का नारी-ससार वास्तव मे 'एक छोटा-सा द्वीप' है, जो भारतीय आदर्शो पर ही बसा हुआ है, न कि पश्चिम के यथार्थवाद पर। पश्चिम के रोमान्टिक यथार्थवाद की नारी, शारीरिक नारी है, किन्तु शरद के आदर्शो की नारी हार्दिक (आध्यात्मिक) नारी है। 'शरद की तूलिका से भारतीय नारी की जो मूर्ति निकली है, वह उनके आस्तिक और समाजवादी (वैयक्तिक स्वेच्छाचारिताहीन) हृदय के रक्त-मास से बन-सँवरकर विरचित हुई है। शरद की इस प्रतिमा मे कुसुम की कोमलता, वज्र की कठोरता और जाह्नवी की पवित्रता है।'

पश्चिम मे नारीत्व के नाम पर जो कुछ हो रहा है, शरद के उपन्यास मानो उसके भारतीय उत्तर है। पश्चिम के यथार्थवाद

(प्रकृतिवाद) की भाषा मे—'प्रकृति ने सिखलाया, मकडी गर्भवती होने पर तुझे नर की आवश्यकता नही।' और मकडी मकडे को खा डालती है। किन्तु भारत की नारी, जीवन के आदर्श को प्रकृति के कीडे-मकोडो से नही, बल्कि मनुष्य होने के नाते मानवी साधना से ग्रहण करती आई है। शरद की नारी उसी साधना की मूर्ति है। 'माता का स्नेह और सयत्न सेवा का सदाव्रत बाँटती हुई, बडी आसानी से, वह इसी विकारमय शरीर मे देवी हो जाती है।'

पश्चिम की नारी जब कि वासनाओ को अपनाकर परुष होती जा रही है, शरद की नारी साधना को अपनाकर अबला नही, तप कोमला हो गई है। भारतीय नारी के लिए सुख-भोग ही प्रधान नही। इसी लिए शरद ने अपने उपन्यासो मे सयोग-शृगार को नही, बल्कि वियोग-शृगार को प्रधानता दी है। उन्ही के शब्दो मे—'राधा का शतवर्षव्यापी विरह ही वैष्णवो का प्राण है। प्रेम-मिलन के अभाव मे ही सुसम्पूर्ण और व्यथा मे ही मधुर है।' सूर की राधा भी कहती है—

मेरे नैना बिरह की बेलि बई,
सींचत नीर नैन के सजनी !
मूल पताल गई।

इस ट्रेजडी (विरह) मे ही आत्मानुभूति (मूल) हृदय की अतल गहराई (पाताल) तक पहुँच जाती है। इसके साथ ही

श्रीकान्त मे अभया का यह कथन भी स्मरणीय है—"सुख प्राप्त करने के लिए दु ख स्वीकार करना चाहिए, यह बात सत्य है, किन्तु इसी लिए, इससे उलटा, जिस तरह भी हो, बहुत-सा दु ख भोग लेने से ही सुख कन्धो पर आ पडेगा, यह स्वत सिद्ध नही है। इस काल मे भी सत्य नही और परकाल में भी नही।"

शरद की नारी, भारत की पौराणिक नारी है। शरद ने आधुनिक स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह तथा अन्यान्य नारी-आन्दोलनो को लौकिक आवश्यकताओ की दृष्टि से नही, बल्कि आर्य्य-नारी की गार्हस्थिक साधना की दृष्टि से देखा है। उसे समस्या में नही, तपस्या मे देखा है। हिंदू गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता मे शरद की बडी श्रद्धा है और उनका विश्वास है कि इस पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए नारी को पुरुप से अधिक स्वच्छ और पवित्र रखना होगा। आज जो ममस्या है, वह तपस्या के अभाव मे है। आज तो उस समस्या को स्वीकार करने के मानी यह हो रहे हैं कि हम भारतीय जीवन को पश्चिमीय वातावरण मे ग्रहण करना चाहते है, क्योकि नई समस्याएँ छूत होकर वही से उद्भूत है। प्रश्न यह है कि भारत क्या पश्चिमीय ही हो गया है या अन्तत उसकी एकमात्र वही परिणति है ?

शरद की दृष्टि से, समाज मे पुरुष के अविचार-वश नारी का जो स्थान छिन्न-भिन्न हो गया है, उसी स्थान को नारी सुशोभित

कर समाज को पुन समाज बना सकती है। नारी माता-रूप मे, भगिनी-रूप मे, कन्या-रूप मे, सहचरी-रूप मे शोभित और आदृत हो। विदेशी सभ्यता मे यह घरेलूपन नहीं रह गया है। जिस घरेलूपन के अभाव मे पश्चिमीय समाज आज मुमूर्षु है, वह अभाव हमारे यहाँ तो नहीं है। वह हमारे यहाँ भी न उपस्थित हो जाय, हमारी सस्कृति की वह जो (घरेलूपन) सबसे बडी देन है, वह आधुनिक युग की मृग-मरीचिका मे न खो जाय, शरद इसी के लिए सजग रहे। दूर के सुहावन ढोल के मोह मे, हमारे यहाँ जो है उसे गँवा न दें, तो हमारी कठौती मे ही गगा लहर सकती है। शरद के पतित चरित्र बाहर भटक रहे है, घर मे स्थान पाने के लिए, जिन कुरीतियो के कारण ये बाहर जा पडे है उन्हे दूर कर समाज अधिक सुखी कुटुम्ब बना सकता है।

सदियो की अशिक्षा और निरक्षरता ने हिन्दू-नारी के हृदय मे जो सकीर्णता और ढोग उत्पन्न कर दिया है और उससे गार्हस्थ्य-जीवन मे जिस अशान्ति और अमगल का सृजन होता है, उसे शरद स्वीकार करते है। मीठी चुटकी लेते हुए चित्रण भी करते है। 'अरक्षणीया' की स्वर्णमजरी, 'छुटकारा' की नयन-तारा, 'पण्डित जी' मे कुज की मान, 'बैकुण्ठ का दान-पत्र' की मनोरमा, 'वाम्हन की बेटी' की रासमणि आदि इसी सकीर्णता तथा ढोग, ईर्ष्या और द्वेष की प्रतिनिधि है। 'वाम्हन की

बेटों में समाज की इन रूढ़ियों का विकट चित्रण इतना स्पष्ट हो गया है कि देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्वार्थपरता, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, ढोंग, धर्मान्धता, षड्यन्त्रपटुता और हृदय की सकीर्णता, शरद की इन स्त्रियों के विशेष गुण हैं। इन स्त्रियों का भी शरद की कला में स्थान है, क्योंकि ये भी उसी कुटुम्ब की अङ्ग हैं, जिसके आदर्श की प्रतिनिधि सावित्री और बड़ी दीदी हैं। शरद के उपन्यासों में कुत्सा की मूर्तियाँ गार्हस्थ्य जीवन के सुख और शान्ति को भग करने का प्रयत्न करती हुई दिखाई देती हैं, परन्तु शरद के नारीत्व में जो उच्च और महान् है, उसकी इन पर विजय होती है। 'श्रीकान्त' में वे स्वय कहते हैं—"बुद्धि से चाहे मैं जितने तर्क क्यों न करूँ,—ससार में क्या पिशाचियाँ नहीं हैं? यदि नहीं तो राह-घाट में इतनी पाप-मूर्तियाँ किनकी दीख पड़ती हैं? सभी यदि इन्द्रनाथ की जीजी (अन्नदा जीजी) हैं, तो इतने प्रकार के दुखों के स्रोत कौन बहाती हैं? तो भी, न जाने क्यों, मन में आता है कि यह सब उनके बाह्य आवरण हैं, जिन्हें कि वे जब चाहें तब दूर फेंककर ठीक उन्हीं (अन्नदा जीजी) के समान अनायास ही सती के उच्च आसन पर जाकर विराज सकती हैं।" फिर अन्यत्र वे कहते हैं—'नारी के कलक की बात पर मैं सहज ही विश्वास नहीं कर सकता। मुझे जीजी (अन्नदा) याद आ जाती हैं। . सोचता हूँ कि न जानते हुए नारी के कलक की बात

पर अविश्वास करके ससार मे ठगा जाना भला है, किन्तु विश्वास करके पाप का भागी होना अच्छा लाभ नहीं।'

(५)

आलोचक या विचारक जिस तथ्य का उद्घाटन अपने रिमार्कों-द्वारा करते हैं, कलाकार उसे हमारे जीवन के विशिष्ट क्षणों के चित्र-पर-चित्र उपस्थित कर व्यक्त करता है। किन्ही कला-कारो मे आलोचक और चित्रकार दोनो का मिश्रित व्यक्तित्व भी प्रकट होता है। शरद के बड़े उपन्यासो में भी यही मिश्रित व्यक्तित्व है, किन्तु छोटे उपन्यासो मे शरद केवल एकान्त कला-कार है, केवल चरित्र-चित्रकार है। उनके छोटे उपन्यास सहृदयो के लिए है और बड़े उपन्यास बुद्धिवादियो के लिए भी। आस्तिक एव धार्मिक शरद को इस बीसवी शताब्दी के बुद्धिवादियो को कुछ भोजन देना आवश्यक हुआ।

चित्रकार शरद अपने उपन्यासो मे यत्र-तत्र मार्मिक व्यगकार भी है, जिनमे विचार-शक्ति का अभाव है, उन्हे उन्ही का विद्रूप-मात्र दिखा देते है। उनके उपन्यासो मे यत्र-तत्र हास्यच्छटा भी है, विशेषत 'विजया' मे। शरद स्वय भी बड़े हास्यप्रिय थे।

शरद की कला की सबसे बड़ी खासियत उसकी सादगी है। सरलपन ही उनका आर्ट है, जिसे ठेठ सरल मन से ही हृदयगम किया जा सकता है, नागरिक वक्रता से नहीं।

शरद बाबू ने जीवन मे आकस्मिकता (होनहार) को भी मनोयोग से देखा है। यह आकस्मिकता ही प्रत्यक्ष जगत् से परे कुछ परोक्ष शक्तियो का अस्तित्व सिद्ध करती है। इसे चाहे हम ईश्वर कहे, चाहे नियति, चाहे केवल एक घटना-मात्र। मनुष्य जब तक कुछ सोचता-समझता रहता है तब तक न जाने किस दिशा से आकर कौन-सी हवा जीवन के प्रवाह को न जाने कहाँ-से-कहाँ मोड जाती है। तभी तो श्रीकान्त कहता है—'मै यही तो बीच-बीच मे सोचा करता हूँ कि क्या मनुष्य की हर एक हरकत पहले से ही निश्चित की हुई होती है?' 'श्रीकान्त' को देखने से ज्ञात होता है कि हाँ, हमारे अन-जान मे पहले ही से निश्चित की हुई होनी है, हम उससे अज्ञात रहते है और जब वह प्रत्यक्ष होने लगती है तब हमे आकस्मिक-सी जान पडती है। यही मानव-जीवन का रोमास है—एक सकुचित अर्थ मे नही, वल्कि व्यापक अर्थ मे।

जीवन का यह रोमास लोगो को प्राय भाग्यवादी वना देता है और बहुतो को भाग्य की ओट मे अपनी निकृष्टता को छिपा लेने का एक बहाना भी मिल जाता है। शरद बाबू भी भाग्य-वादी जान पडते है, किन्तु ऐसे भाग्यवादी नही। उनके भाग्य-वाद की फिलासफी यह हो सकती है कि वह सुयोग ही भाग्य है, जिसे मनुष्य अपने मानव-रूप को सार्थक करने मे सहायक वना सके। ऐसा सुयोग न मिलने पर उसकी विशेषताएँ अगोचर

भले ही रहे किन्तु मनुष्यता की दृष्टि से वह कंगाल या अभागा नहीं हो सकता।

शरद बाबू का अन्तिम उपन्यास है 'विप्रदास', जिसमे अन्तत इस बीसवीं शताब्दी की पश्चिमीय सभ्यता के घात-प्रतिघात मे भी वे भारतीय संस्कृति को सजीव और आत्म-विश्वस्त कर गये हैं। 'विप्रदास' से पूर्व 'शेष प्रश्न' मे समाज की उन जीवित मृतात्माओ (वेश्याओ) को भी नवजीवन दिया है, जिनके उद्धार का प्रश्न निकट भविष्य मे ही अछूतोद्धार की भाँति ही एक महान् प्रश्न होगा। इस प्रश्न के रूप में एक विराट् अग्निपिण्ड अन्धकार को धक-धक भेदता हुआ चला आ रहा है।

उपन्यासो के अतिरिक्त उन्होंने एक-आध नाटक और बच्चों के लिए कहानियाँ भी लिखी हैं। आशा है, कभी हिन्दी में उनका भी दर्शन होगा।

कला में जीवन की अभिव्यक्ति

(१)

समाज की तरह साहित्य में भी लोकोक्तियाँ बनती जा रही है, जिनमे से यह उक्ति प्राय सुनाई पडती है—'कला कला के लिए।'—इस उक्ति के आधार पर हमारे यहाँ यह धारणा कुछ-कुछ फैल चली है कि दिन-रात के इस हँसते-रोते विश्व से पृथक् कला कोई भिन्न वस्तु है, जिसका अस्तित्व केवल लिखने-पढने के ससार तक ही सीमित है, प्रत्यक्ष जीवन की एकतारता के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही। और इसी लिए, साहित्य के जडवत् मूक-पृष्ठो पर चाहे जो लिख दिया जाय, उस लिखित अग को हिला-डुलाकर जीवन उससे यह प्रश्न नही कर सकता कि, तुम्हारा हमारे अभ्युदय मे क्या सम्बन्ध है, तुम मेरे उपवन मे फूल लगा रहे हो या बबूल? आग बरसा रहे हो या बरसात की झडी? तुम विध्वसक हो या स्रष्टा?

'कला कला के लिए' का कोई भ्रान्त लेखक कदाचित् कहेगा—जीवन को कला मे यह प्रश्न करने का अधिकार नही। वह तो केवल 'कला' है, जीवन का सगोत्रीय नही कि उसके कृत्यो के लिए पञ्चायत की जाय अथवा उसके कारनामो का लेखा-जोखा लिया जाय। तब क्या कला जीवन से जाति-बहिष्कृत

है? परन्तु बात तो ऐसी नहीं जान पडती। जिस प्रकार जीवन मानव-शरीर धारण कर समाज के सम्मुख उपस्थित होता है, उसी प्रकार कला, ग्रन्थ का शरीर धारण कर जीवन के सम्मुख उपस्थित होती है। किसी भी कलात्मक ग्रन्थ को शीशे-दार आलमारी में बन्द कर या टेबुल पर रखकर हम नुमाइशी वस्तुओ की तरह केवल देखते भर नहीं, केवल उसकी छपाई-सफाई या जिल्दसाजी को देखकर आँखो की हविस भर ही नहीं मिटाते, बल्कि, उसे हम पढते है, कानो से सुनते है, मस्तिष्क से सोचते है और हृदय से हृदयगम करते है। इस प्रकार जब किसी ग्रन्थ का सम्बन्ध हमारे आँख, कान, मन और वाणी से जुड जाता है, तब उसकी कला भला हमारे जीवन से पृथक् कैसे हो सकती है। थोडी देर के लिए यदि हम उसकी कला को नुमा-इशी वस्तु के रूप मे ही श्लाघ्य समझ ले तो भी उसकी नुमा-इश में, उसके प्रदर्शन मे, जो एक रस मिलता है, वह क्योंकर? यदि एक शव के सम्मुख—जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने स्थान पर यथावत् साकार है—किसी कलात्मक ग्रन्थ को उप-स्थित कर दे, तब उसे क्या उस रस की उपलब्धि होगी? नहीं, क्योंकि वह चेतना जो अनुभूतिशील है, वहाँ है कहाँ! चेतना के कारण ही तो जीवन, जीवन बना हुआ है और जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदय-सवेद्य बनी हुई है। तब, कला जीवन से विच्छिन्न कैसे हो सकती है? यो निष्प्रभ शरीर

से जिस प्रकार चेतना लुप्त हो जाती है उसी प्रकार कला नीरस और निष्प्राण होकर भले ही जीवन से पृथक् हो जाय।

(२)

तो क्या 'कला कला के लिए' का कथन निरर्थक है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यह कथन तो अपने भीतर एक निगूढ़ पहेली छिपाये हुए है। उस पहेली की तह तक न पहुँच सकने के कारण ही कला के सम्बन्ध में ग़लतफ़हमियाँ फैल रही हैं। और वह बेचारी अबलाओं की तरह ही दुष्ट दृष्टियों-द्वारा कद-र्थित हो रही है।

'कला कला के लिए' की आवाज़ उस समय उठनी चाहिए जब समाज की तरह साहित्य भी रूढ़ि-ग्रस्त होकर विकास-हीन और प्रभाव-रहित हो जाय। देश-काल के अनुसार नियोजित किसी विशेष विधान को ही जब समाज सब कुछ मानकर लकीर का फकीर हो जाता है, तब उसकी प्रगति ही अवरुद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। यही हाल साहित्य का भी है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार समाज के रङ्ग-मञ्च पर युग-प्रवर्त्तक महाप्राण पुरुष खड़े होकर नूतन पथ-प्रदर्शन करते हैं, उसी प्रकार साहित्य की रङ्ग-भूमि पर आकर हमारे अमर कलाकार कला को भी नूतन गति-विधि दे जाते हैं। साहित्य के भीतर से जीवन को किस प्रकार जगाना चाहिए, इसके लिए वे मानवी मनोविज्ञान के अनुसार कला

के नूतन नियमो और नूतन रूप-रङ्गो की सृष्टि करते है, और उनके द्वारा जीवन की उस चिरन्तन चेतना को जाग्रत् करते है, जो शरीर (वाह्य रूप-रङ्ग) के परिवर्त्तनशील आवरण मे आत्मा की भाँति है।

ऊपर निर्देश कर चुके है कि मानवी मनोविज्ञान के अनुसार ही युग-प्रवर्त्तक कलाकार समय-समय पर कला को नूतन रूप-रग प्रदान करते है। समय के प्रवाह के साथ ज्यो-ज्यों मनुष्य की सरलता नष्ट होती जाती है, ज्यो-ज्यो उसमे विषमताएँ वढ़ती जाती है, त्यो-त्यो उसका मनोविज्ञान भी जटिल होता जाता है। इस जटिलता के कारण ही कला को मनुष्य के सम्मुख नाना प्रकार से उपस्थित करना पड़ता है। किसी सीधे-सादे युग में मनुष्य से सिर्फ यही कह देना पर्याप्त रहा होगा कि सच वोलो और मनुष्य ने सच को अपना लिया। परन्तु मनुष्य सत्यवादी होकर अप्रियवादी भी हो गया, तव उससे कहना पडा—'अप्रिय सत्य मत वोलो।' मनुष्य ने इस पाठ को भी ग्रहण कर लिया। परन्तु किसी युग का, शिशु की तरह सुवोध आज्ञाकारी मानव-समुदाय चिर-सहज नही रह सका, उसमे जीवन की वक्रता भी आगई। तव साहित्यकारों को उससे वेदान्त के सूत्र-रूप मे ही नही, वल्कि विशद कथा-रूप में भी आत्मीयता जोडने की आवश्यकता जान पड़ी। परन्तु मनुष्य की चेतना कानो मे ही नही,

आँखो मे भी समाई हुई है। अतएव मनुष्य सदैव से जो सुनता आया है, उसका आँखो-द्वारा भी समाधान चाहने लगा। उसकी इस इच्छा की पूर्ति नाटको द्वारा हुई। इस प्रकार वाणी ने समाज के भीतर साहित्य-द्वारा क्रमश विविध प्रवेश किया। आज काव्य, कथा, उपन्यास, नाटक, इत्यादि विविध उपहारो को लेकर साहित्य मानव-समाज के साथ अपनापन बढा रहा है। यदि कोई आज यह कहे कि "तुम आप्त सूत्रो मे ही बातचीत करो, वाणी का इतना विस्तार करने की आवश्यकता नही," तो जिस प्रकार यह आदेश निरर्थक हो सकता है, उसी प्रकार यह परामर्श भी अनावश्यक होगा कि किसी समय मे साहित्य के लिए जो अमुक-अमुक नियम थे, आज भी उन्ही नियमो पर चलो। अथवा कोई छायावाद की कविताओ के लिए ब्रजभाषा के कवित्त सवैयों या पुराने लक्षण-ग्रन्थो का नियम लागू करे और कहे कि इसके बिना कविता हो ही नही सकती, जिस प्रकार यह बात हास्यास्पद हो सकती है, उसी प्रकार किसी युग-विशेष के कला-सम्बन्धी नियमो को ही अपनाकर साहित्य की सृष्टि करने का आदेश देना भी निरर्थक हो सकता है। कल के पूर्व-परिचित विधान जिस युग के साहित्य मे प्रचलित हुए थे, उस युग के मनोविज्ञान के अनुसार वे यथेष्ट थे, किन्तु आज के विधान आज के मनोविज्ञान के अनुसार प्रभावशाली होने चाहिए। इस प्रकार 'कला कला के लिए'

का समझदार लेखक कह सकता है कि कला स्वावलम्बिनी है, किसी युग-विशेष की रूढ़ियो पर ही आश्रित नही। यदि साहित्यिक रूढ़ियो का शासन कला पर जबरन् लागू किया जायगा तो स्वतन्त्रचेता कलाकार को कहना ही पड़ेगा—कला कला के लिए है, रूढ़ियो के लिए नही। कला अपनी स्वतन्त्रता को वनाये रखकर ही अपना विकास कर सकती है। उसमे नित्य नतन कुशलता का माद्दा है, इसी लिए वह 'कला' है, चाहे वह ललित कला हो (जिससे हमे मानसिक रस मिलता है), चाहे वह उपयोगी कला हो (जिससे हमे व्यावहारिक लाभ होता है)। इस प्रकार कला प्रत्येक रूप मे जीवन से सम्बद्ध है।

(३)

कला लक्ष्य नही, लक्षणा है, साध्य नही, साधन है, अभिप्रेत नही, अभिव्यक्ति है। लक्ष्य या अभिप्रेत तो जीवन है, जिसे मानव-समाज अनेक प्रकार से पाने का प्रयत्न करता है। साहित्य भी उनमे से एक 'प्रकार' है। यह प्रकार अपकारपूर्ण भी हो सकता है, अतएव इसे मगल और मनोरम वनाने के लिए ही कला को साधन वनना पडा। साहित्य मे कला का अर्थ है—मनोहरा। जीवन मे जो कुछ सत्य है, शिव है, कला उसे ही 'सुन्दर' (मनोहर) वनाकर साहित्य-द्वारा संसार के सम्मुख उपस्थित करती है। कला-साहित्य का वाह्यरूप है, जीवन उसका अन्त स्वरूप। कला अभिव्यक्ति है, जीवन अभिव्यक्त।

सुन्दर शरीर जिस प्रकार अन्तश्चेतन का नयनाभिराम प्रकाशन करता है उसी प्रकार कला साहित्य की जीवनमयी अन्तरात्मा की मनोरम अभिव्यक्ति करती है। परन्तु 'विष-रस-भरा कनक घट जैसे' के अनुसार, जिस प्रकार सुन्दर शरीर में विषाक्त हृदय का होना सम्भव है, उसी प्रकार मनोहर कला-द्वारा जीवन का दूषित किंवा विकृत रस भी उपस्थित हो जाना साहित्य मे असम्भव नही है और प्राय. इसी कोटि के कलाकार अपने बचाव के लिए कह उठते है—'कला कला के लिए'। अर्थात् कला ने यदि अपने कलित रूप को व्यक्त कर दिया है तो उसका अस्तित्व सार्थक है, उसे उसी के लिए देखना चाहिए। यह विचार ठीक ऐसा ही जान पडता है, जैसे यह कहा जाय—'सुन्दरता सुन्दरता के लिए'। नि सन्देह सुन्दरता, सुन्दरता का आदर्श हो सकती है, किन्तु वह सुन्दरता, वह कला, शोभाशालिनी 'विष-कन्या' की भाँति प्राण-घातक भी हो सकती है। ऐसी कला साहित्य के लिए एक अभिशाप है। अतएव कला की सार्थकता केवल 'सुन्दरता' मे नही है, बल्कि उसके मगलप्राण होने मे है।

निदान, हम तो 'कला कला के लिए' का सङ्केत इसी अभि-प्राय में ग्रहण कर सकते है कि कला रूढ़ि-रहित हो, उसे नाना परिवर्तनो-द्वारा कल्याणमयी चेतना को व्यक्त करने की स्वत-न्त्रता हो। यह स्वतन्त्रता कला के लिए ही नही, जीवन के

लिए भी वाञ्छित है। किन्तु स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता ही रहे, वह स्वेच्छाचारिता न बन जाय। स्वेच्छाचारिता भी उतनी ही अशोभन है, जितनी कि परतन्त्रता।

(४)

जब हम स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन को गतिशील करते है, तब मनुष्यता के धरातल पर 'जीवन' एक सरिता के रूप में प्रवाहित होता हुआ दीख पडता है। सरिता का जीवन स्वतन्त्र है, इसी लिए वह प्रगतिशील है। यदि उसे हम परतन्त्र कर दें तो वह 'जीवन' एक सरोवर के रूप में सकीर्ण और दूषित हो जायगा। यदि इस परतन्त्रता की प्रतिक्रिया मे जीवन स्वेच्छा-चारिता के लिए उद्‌वुद्ध हो जाय तो? 'चूल्हे से निकले तो कडाही में गिरे' वाली वात हो जायगी। स्वेच्छाचारिता से जीवन की नदी मे 'वाढ' आ सकती है, जिससे अपना जीवन तो पङ्किल हो ही जायगा, साथ ही समाज भी तवाह हो जायगा यह ठीक है, कि वाढ भी 'जीवन' का एक रूप है, किन्तु क्षणिक रूप। वाढ-द्वारा यदि नदी समुद्र वन जाना चाहे तो वह जीवन का माधुर्य्य खो देगी—

'वह जाता बहने का सुख,
लहरो का कलरव, नर्त्तन।
बढ़ने की अति-इच्छा में,
जाता जीवन से जीवन।'

अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार प्रत्येक की एक मर्यादा है, समुद्र भी अपनी मर्यादा नही छोडता। जीवन का शाश्वत रूप बढ़ी हुई नदी मे नही, बल्कि स्वाभाविक गति से बहती हुई सरिता मे है। सरिता स्वतन्त्र है, वह किसी बन्धन से बाँधी नही जा सकती। परन्तु जो स्वतन्त्रता को अपनाता है, वह दूसरो के बलात् बन्धन से तो नही बँधता, परन्तु आत्ममर्यादा के लिए वह स्वय ही प्रसन्नतापूर्वक एक मुक्त-बन्धन मनोनीत कर लेता है। सरिता का सीमित जीवन अपने दोनो तटो मे निर्बन्ध है, परन्तु उसकी वही सीमित-निर्बन्धता उसका 'मुक्त-बन्धन' भी है। इसी लिए सरिता की कवि-आत्मा कह सकती है—

'बन्दिनी बनकर हुई मैं
बन्धनो की स्वामिनी-सी।'

जीवन की तरह कला मे भी इसी प्रकार मर्यादा का आत्म-स्वीकृत बन्धन होना चाहिए, तभी वह स्वतन्त्र जीवन की स्वतन्त्र कला हो सकती है।

सरिता का आत्ममर्यादाशील जीवन ही हमारा परिपूर्ण आदर्श है—

'आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता।
जल-जल है, लहर-लहर रे,
गति-गति, सृति-सृति चिरभरिता।'

उस आत्मामयी सरिता मे सजलता भी है, ऋजु-कुञ्चित पथो की वक्रता भी है—इसी लिए उसमे गति है, उसमे निर्मलता भी है और लहरो की रसिकता भी। परन्तु सब कुछ मर्य्यादित है। कथा-साहित्य मे कला-द्वारा जीवन की ऐसी ही लौकिक अभिव्यक्ति चाहिए। जीवन की यह अभिव्यक्ति क्या 'यथार्थ' नही है ?

(५)

साहित्य मे यथार्थवाद के नाम पर अन्धेर हुआ है। क्या लज्जा-रहित वास्तविकता को ही यथार्थता कह सकते है ? तब ऐसी वास्तविकता मे कला की क्या खूबी है ? कला तो वास्तविकता को सँभालती-सँवारती है, इसी लिए वह कला है। कला का अस्तित्व ही आदर्श का, मगल का सूचक है।

भगवान् ने अपने अनेक अवतारों मे से एक अवतार कलाकार का भी लिया था। मानव-जीवन के सबसे बड़े कलाकार कृष्ण है। वे 'नटवर' है, 'मुरलीधर' है, उनके स्वरूप मे कला मूर्तिमान् है। उस कलाकार का कौशल तो देखिए। भरी सभा मे जब दुर्योधन, कला की पाञ्चाली को विवस्त्र कर देना चाहता है, तब न जाने किस अज्ञात कक्ष से कलाकार कृष्ण, पाञ्चाली के लिए अञ्चल-पर-अञ्चल बढाकर अनन्तदुकूला वसुन्धरा की भाँति उसे शोभान्वित कर देता है।

सुन्दरता यदि कला है, परिच्छद है, तो यथार्थ उसका शरीर है और आदर्श उसकी मगल आत्मा। शरीर अपनी स्थूल यथार्थता के कारण प्रशस्त नही है, वह महान् है अपनी आत्मा के कारण। इस दृष्टि से यदि हम देख सके तो विशाल शरीर-वाले कितने ही नर-पशुओ की अपेक्षा सूक्ष्मकलेवरा चीटी मे अधिक मगलचेतना मिल सकती है।

जब सूक्ष्मतम ज्योतिर्मयी आत्मा शरीर का इतना बडा आवरण अपनाये हुए है, (उसे भी नग्न रूप मे उपस्थित होने मे लज्जा मालूम पड़ती है) तब उस शरीर (यथार्थ) की भी मर्य्यादा का ध्यान रखना ही पडेगा। वह राजमहिषी जिस पालकी (शरीर) मे प्रवास कर रही है, वह पालकी भी अनावृत कैसे रह जाय! आत्मा सम्मान की वस्तु रहे, वह कौतुक या तमाशे की चीज न बने; वह अधिकारी द्वारा समझने और मनन की वस्तु हो, इसी लिए वह आवरण-पर-आवरण ग्रहण करती है।

जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है, उसी प्रकार यथार्थ आदर्श का माध्यम। यथार्थ—आदर्श को किस प्रकार समाज के सामने उपस्थित करे, इसे उचित रूप से हृदयगम करने मे ही कलाकार की विशेषता है। घोर-से-घोर कलुषित व्यक्ति भी, जब अपना फोटो खिचवाने जाता है, तब वह अपने को इस 'पोज' में साकार करना चाहता है कि वह लोक-दृष्टि को सुदर्शन जान पडे। फिर साहित्य के चित्रो मे विकृति की लालसा क्यो?

साहित्य मे व्यक्ति और समाज के चित्रो को उपस्थित करते समय कलाकार को फोटोग्राफर से अधिक कला-कुशलता दिखानी पड़ती है। यथार्थ को वह इस 'तर्ज' से उपस्थित करता है कि वास्तविकता तो प्रकट हो ही जाती है, साथ ही जो अलक्ष्य (आदर्श) है, वह भी लक्ष्य मे आ जाता है। किसी फोटो मे चिपटी नाक को देखकर, बिना फ़ोटोग्राफर के कहे भी स्वयमेव शुक-नासिका का आदर्श सामने आ जाता है। यथार्थ—मनो-वैज्ञानिक निरीक्षको के लिए एक साकेतिक आधार है। यथार्थ की अभिव्यक्ति का अच्छा 'तर्ज' कला का आदर्श है, जीवन की अभिव्यक्ति का अच्छा ढङ्ग यथार्थ का आदर्श।

(६)

कलाकार सब जगह बोलता नही, तो भी, उसके चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता से अप्रत्यक्ष वास्तविकता (अभीप्सित आदर्श) का बोध हो जाता है। आधुनिकतम कलाकार स्वय नही बोलता, वह सङ्केत से ही अधिक काम लेता है। परन्तु जो लोग कथा-साहित्य को कला की दृष्टि से नही, बल्कि धर्म और नीति की दृष्टि से ग्रहण करना चाहते है, उनके लिए पौराणिक कहानियों में उपदेश-मूलक आदर्श भी है। समाज का यह धर्म-पीडित वर्ग ऐसा है, जो सङ्केत की भाषा नही समझ सकता। वह रूढि-ग्रस्त मूढ है। वह सुझाने से नही, बल्कि समझाने से ही समझता है। हमारे अमर कथाकार स्व० प्रेमचन्द जी ने इस वर्ग के

पाठको की साहित्यिक रुचि को उन्नत करने मे बहुत हाथ बँटाया है; केवल नैतिकता के रूप मे नही, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के रूप मे भी।

(७)

सर्वश्री रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र हमारे वे स्वनामधन्य कलाकार थे, जिन्होने आधुनिक विश्वसाहित्य मे भारत का मस्तक ऊँचा किया है। प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र आदर्शवादी कलाकार थे। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर इनके बजाय एक भिन्न प्रकार के कलाकार थे। उनकी सभी कथा-कृतियो को यथार्थवाद और आदर्शवाद के मापदड से मापना अवाञ्छित प्रयत्न करना होगा। उनकी कला नि सन्देह कला के लिए भी है। वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आदर्शो के लिए ही नही, अपितु केवल मानसिक रस-सचरण के लिए भी है। वह रस निर्विष है, इसी लिए 'विष-कन्या' के रूप-रस की तरह घातक नही, स्वास्थ्यदायक है। इस प्रकार की कृतियो मे आदर्श तो नही ढूंढा जा सकता, किन्तु यथार्थ हो सकता है, यद्यपि यथार्थ के लिए ही लिखा जाना इनके लिए आवश्यक नही होता। उनका यथार्थ कवि का यथार्थ (भाव) है, जिसमे जीवन के ऊर्ध्व वातावरण का सत्य रहता है।

हाँ तो, प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र आदर्शवादी कलाकार थे। यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी आदर्शवादिता के लिए विश्रुत थे

शरच्चन्द्र अपनी यथार्थवादिता के लिए, परन्तु प्रेमचन्द अपनी सभी कृतियो मे आदर्शवादी नही थे, इसके विपरीत शरच्चन्द्र अपनी सभी कहानियो और उपन्यासो मे एक-से आदर्शवादी थे। प्रेमचन्द जी की अनेक कहानियो मे तो हम 'कला कला के लिए' की ही बात पा सकते है। उनकी सर्वाङ्गसुन्दर कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' को ही लीजिए, इसमे किस आदर्श का उपदेश है ? वह तो केवल एक मानसिक रस प्रदान करती है, जिससे हृदय तृप्त होता है। प्रेमचन्द जी मुख्यत. अपने उपन्यासो में ही आदर्शवादी थे। इनके उपन्यासो मे केवल सामयिक समाज और राष्ट्र का साहित्यिक इतिहास ही नही है, बल्कि जिस प्रकार के पाठको के लिए उन्होंने अपने आदर्श उपस्थित किये है, उनके मानसिक विकास के अनुसार मानवी मनस्तत्त्व भी हैं।

राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त की भाँति प्रेमचन्द जी राष्ट्रीय उपन्यासकार थे। राष्ट्रीय प्रश्नो के साथ समाज का जहाँ तक सम्बन्ध है, वही तक उन्होने समाज को अपनाया है। 'गोदान' इसका अपवाद है, जिसमे सामाजिक प्रश्न को सामाजिक रूप मे ही दिखलाया हैं। प्रेमचन्द जी से भिन्न शरच्चन्द्र सर्वथा सामाजिक उपन्यासकार थे, यद्यपि अपवाद-स्वरूप 'पथेर दावी' मे वे भी राष्ट्रीय कलाकार के रूप मे प्रकट हुए। अपनी कहानियो और उपन्यासो मे शरच्चन्द्र ने जिन सामाजिक प्रसगो का निर्देश

किया है, राष्ट्रीय प्रश्नों से उनका राजनीतिक लगाव नहीं। राष्ट्र के स्वतन्त्र या परतन्त्र किसी भी युग में वे प्रसग ज्यों के त्यों रहेंगे। राष्ट्रीय प्रश्नों का सम्बन्ध यदि शासकों की राजनीति से है तो शरच्चन्द्र के सामाजिक प्रश्नों का सम्बन्ध व्यक्तियों की रीति-नीति और अनुभूति से। शरद बाबू उसी रीति-नीति को सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए सहृदयता और सहानुभूति-पूर्ण उनका एक विशेष दृष्टिकोण है। वही दृष्टिकोण उनकी छोटी-सी-छोटी कहानी से लेकर बड़े-से-बड़े उपन्यास में प्रकट हुआ है। प्रेमचन्द का आदर्श व्यक्त है, शरच्चन्द्र का आदर्श अव्यक्त। प्रेमचन्द का आदर्श पञ्चनद की तरह उद्घोष करता है तो शरच्चन्द्र का आदर्श अन्त.सलिला की तरह भीतर ही भीतर सूक्ष्म सवेदन को जाग्रत् करता है। प्रेमचन्द जी के आदर्श में जनमत का व्यक्तित्व है, शरच्चन्द्र के आदर्श में प्रतिमतित्व।

(८)

आदर्श को यदि हम सकुचित अर्थ में ग्रहण करेंगे, अथवा उसे जप-तप, पूजा-पाठ, जाति-धर्म तक ही केन्द्रित करेंगे, तो यह हमारी ही भूल होगी। प्रेम, सहानुभूति, करुणा, ममता ये भी आदर्श के प्रतीक हैं, ये किसी जाति, धर्म्म और देश तक ही सीमित नहीं। आदर्श तो मनुष्यता की तरह विस्तृत, आत्मा

की तरह व्यापक है। देश-काल के विभेद से आदर्श नव-नव रूप धारण करता है। उस चिरनवागन्तुक पथिक के लिए यथार्थ 'गाइड' का काम करता है। वह समाज की ऊँची-नीची गलियो से घुमाता हुआ आदर्श को उसके उज्ज्वल सिंहासन तक पहुँचा देता है। यथार्थ के बिना आदर्श गति-रहित है, आदर्श के बिना यथार्थ जीवन-रहित। आदर्श यदि राजपुरुष है तो यथार्थ उसका राजमन्त्री। यह राजमन्त्री ही राजपुरुष को मानवता के सरक्षण के लिए मन्त्रणा देता है। यथार्थ चाहे तो अपने राजा के साथ विश्वासघात कर सकता है। जब वह विश्वासघात करता है तभी जन-रव क्षुब्ध हो उठता है। यो वह अपने स्थान पर सार्थक है।

कलाजगत् और वस्तुजगत्

(१)

जब हम 'भारतवर्ष' नही, बल्कि 'भारतमाता' कहते हैं, तब इसमे हमारा क्या दृष्टिकोण रहता है? हम मानचित्र उठाकर देखते है तो नदियो, समुद्रों, पर्वतो और प्रदेशो का सीमा-विस्तार देख पड़ता है, कही कोई मूर्ति नही; यह तो एक नकशा है। किन्तु बाहर (वस्तुजगत् में) जो नकशा है, वही हमारे भीतर मातृभूमि की एक जीवित प्रतिमा भी रच देता है और हम गा उठते है—

> नीलांबर परिधान हरित पट पर सुन्दर है;
> सूर्य चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
> नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे-मंडल है;
> बंदी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन है।
> करते अभिषेक पयोद है बलिहारी इस वेश की!
> हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की!

इस प्रकार जब हम मातृभूमि की वंदना करते है तब घोर रियलिस्ट राजनीतिक होते हुए भी भावप्रवण हो जाते है, वस्तु-

जगत् से काव्यजगत् में चले आते हैं। यही वस्तुजगत् और काव्यजगत् का पार्थक्य ज्ञात हो जाता है। मनुष्य जब जड़ की नही, बल्कि सजीवता की उपासना करता है तब वह कवि हो जाता है। हम स्वय जड नही, एक जीवित प्राणी है, इसी लिए हम वस्तुजगत् को अपनी ही तरह एक व्यक्तित्व देकर देखने के आदी है। केवल हाड़-मांस का शरीर ही मनुष्य नही है। शरीर तो एक शव है, मनुष्य का एक नश्वर आकार, जैसे देश का नकशा। उस आकार-प्रकार मे मनुष्य की जो आत्मचेतना है, वही उसे जीवित प्राणी बनाती है, वही मातृभूमि को भी भारत-माता के रूप में उपस्थित कर देती है। उसी चेतना के कारण वस्तुजगत् रूप-रग-रस-गध और ध्वनिमय है। जड-सृष्टि (वस्तुजगत्) मे चेतना का अधिकाधिक सरस विकास ही कविता है। कवि जब कहता है—

'धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे है मेरे मधुमय गान।'

तब मानो वह पार्थिव जगत् (वस्तुजगत्) मे उसी आत्म-चेतना का, शरीर मे आत्मा की भाँति आभास पाता है। इस प्रकार कविता, पार्थिव धूलिकणो (लौकिक क्षणो) मे अलौकिक चेतना की किरणद्युति है, वास्तविकता के बहिर्मुख पर अन्तर्मुख का 'आनन ओप-उजास' है।

(२)

कविता का भी अपना एक विज्ञान है। वह केवल कपोल-कल्पना नहीं, बल्कि उसका भी वैज्ञानिक आधार है। हम देखते हैं कि कुम्हार के सामने वास्तविकता (पार्थिवता) की मिट्टी का एक ढेर लगा रहता है, इसे ही वह न जाने कितने आवर्त्तों से एक मंगलघट बना देता है! इस नये रूप में मूल वास्तविकता क्या से क्या हो जाती है! इसी प्रकार वस्तुजगत् को कलाजगत् में परिणत करने के लिए हमारे मन के भीतर भी न जाने कितने आवर्त्त चलते हैं—कुम्हार के घूमते हुए चाक से भी अधिक तीव्र गति से। हम आँखों से जिन प्रत्यक्ष दृश्यों को देखते हैं, उन्हे देखने के लिए, मन को कितनी फेरियाँ देकर आँखो तक पहुँचना पडता है, यह वैज्ञानिक जानते है। ऐसी ही क्रिया कविता में भी एक मनोवैज्ञानिक 'रोटेशन' है। कवि को अपनी कला की मूर्ति अंकित करने के लिए, मनोविज्ञान से भी आगे जाकर एक और सूक्ष्मतम विज्ञान की शरण लेनी पडती है, वह है भावविज्ञान। साहित्य का रस-शास्त्र वही भावविज्ञान है। काव्य को जब हम अलौकिक कहते है, तब हमारा अभिप्राय यह रहता है कि उसमे कवि केवल दृश्य (वस्तु) जगत् का दिग्दर्शक न रहकर कुछ आंतरिक क्षणो का रस-सिद्धि-साधक भी रहता है।

(३)

वृन्त मे कोई फूल गुलाव की भाँति अकेले खिलता है, कोई अपनी डाल मे गुच्छ वनाकर। छायावाद के वर्तमान कवि अपने-अपने काव्य में एकान्त भाव से एकाकी खिले है, समुदाय को लेकर नही। छायावाद और वस्तुवाद अथवा भावजगत् और दृश्यजगत् की कविता विश्व-रगमच के अव्यक्त (स्वगत) और व्यक्त (लोकगत) कथन के समान है। इसे हम सवजेक्टिव और अवजेक्टिव भी कह ले। स्वगत मे आत्मलीन किंवा अपने मे खोये हुए क्षणो का उद्‌गार रहता है। सभी के जीवन मे ऐसे एकाकी क्षण भी आते है, अतएव वे एकात उद्‌गार भी कही न कही, किसी न किसी क्षण, सहृदयो के सवेदन वन जाते है।

कवि जव अपनी चेतना मे वस्तुजगत् को ग्रहण करता है तव वह विचारप्रधान हो जाता है, जव कल्पनाजगत् को स्पर्श करता है तव रसप्रधान। एक मे वह मनोवैज्ञानिक रहता है, दूसरे मे भावुक। प्रवधकाव्य मे दोनो का सहयोग रहता है।

कवि वस्तुजगत् मे तभी आता है जव वह समुदाय की मनोधारा मे अवगाहन करना चाहता है। समुदाय के सगम पर खडा होकर वह स्वगत विचार भी करता है और समूहगत भी। किंतु उसका स्वगत भी समूह की ओर ही प्रवाहित रहता है, यथा, गुप्त जी के 'द्वापर' मे। वस्तुजगत् प्राय प्रवधकाव्यों का क्षेत्र है। प्रवधकाव्य के मनोविज्ञान में वह भावुक क्षण भी

सम्मिलित रहता है, जहाँ व्यक्ति, समूह की विचार-धारा में नही, बल्कि अपने ही रसस्रोत से अनुरजित रहता है। दूसरे शब्दो मे, वह कल्पना से भी उर्मिल रहता है। वस्तुजगत् और कल्पनाजगत् का यह सयोग गुप्त जी के 'साकेत' मे है, जहाँ वे समूह के कवि के साथ ही छायावाद के भी कलाधर हैं।

हाँ तो, वर्तमान छायावादी अपने भाववृत मे आत्मव्यजक है, गुप्त जी इत्यादि विश्वव्यजक। दोनो का कविकर्म अलौकिक है—एक लोकोत्तर चित्र प्रदान करता है, दूसरा लोकोत्तर चरित्र। दोनो अपने-अपने क्षेत्र मे शोभन कलाकार है। किंतु छायावाद की कला में भी लोकव्यजना सभव है, जैसे पत जी की इधर की रचनाओ में। अतर सामाजिक दृष्टिकोण के प्रसार का है। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि गुप्त जी मध्ययुग के उन आदर्शों के कवि है जो जनता मे एक अभ्यासपूर्ण विश्वास बन गये है, किंतु पत आदर्शों की जनशोषक रूढियो को तोड़कर उस समाज के कवि है, जहाँ नवमानव का त्राण है। छायावाद की नवीन लोकव्यजक कला भी भविष्य मे कैसा सुविकास पायेगी, यद्यपि यह नही कहा जा सकता, तथापि इसका भी विकास तो होगा ही। अभी तो वह अपने रूखे-सूखे प्रयास मे है।

(४)

भीतर की अपेक्षा, मनुष्य बाह्य प्रभावो को अधिक शीघ्रता से ग्रहण करता है, जैसे जलवायु और प्रकाश को। यह प्रभाव

प्राकृतिक है। किंतु भीतर से जो ग्रहण किया जाता है वह मार्मिक होता है, प्राकृतिक जगत् के प्रभावबोध से भी अधिक स्पदनशील। छायावाद की कल्पना मिथ्या नहो, वह तो अनुभूति को, स्पदन को, अभीष्ट तक पहुँचाने मे एक पोएटिक आँकलन है—किसी रस को हृदयगम कराने मे जब वस्तुजगत् का कोई मापदड सहायक नही होता, तभी वहाँ कल्पना अग्रसर होती है।

जो वस्तुजगत् के सुख-दुख की तीव्रता से भौगोलिक-शीतोष्ण की भाँति अभ्यस्त है, वे छायावाद मे भी उसी तीव्रता-द्वारा सुख-दुख से अवगत होना चाहते है और निष्फल होने पर उसे मिथ्या कह देते है। सचमुच अब तक छायावाद ने वस्तु-जगत् को व्यावहारिक जीवन के लिए ही छोड़ दिया। व्याव-हारिक जीवन को जिस रस की आवश्यकता है, केवल उसे ही लेकर उसने अपने काव्य को सुस्निग्ध कर लिया। उसने कपास के बजाय रेशम दिया। उसे हृदयगम करने के लिए वैसी ही स्निग्ध विदग्धता अपेक्षित है। किंतु इसके पूर्व ?—

आह, आज तो मनुष्य अपने निपीडन मे बाहर-भीतर दोनों ही जगह स्पन्दनशून्य हो गया है। आज भी जिनकी चेतना शेष है, वे अपनी स्वल्पता मे, अपनी सम्पन्नता के स्वास्थ्य मे, अनेको के वचित सुख को सूचित करते है।

(५)

देश का एक विचारक-समुदाय वह है जो काव्य को अति वास्तविकता (उपयोगिता) के ही दृष्टिकोण से देखना चाहता है। उसकी उपयोगिता के जगत् में मनुष्य केवल उदरभरि ही न हो जाय, नवीन जागृति के कवियों को इसका ध्यान रखना होगा।

ध्यान रखना होगा कि रोटी का टुकड़ा यदि पेट के लिए उपयोगी है तो जीवन का गान हृदय के लिए। जो कुछ शरीर की पूर्ति करे वही उपयोगिता नहीं है। आज के सक्रान्ति-काल में यदि इसे ही उपयोगिता मानते हैं तो इसके मानी यह है कि जीवन का वाद्य-यंत्र कहीं टूट गया है और बिना नवीन निर्माण हुए उसमें कोई सुरीला स्वर नहीं निकाला जा सकता। किंतु नवीन निर्माण में लक्ष्य हमारा सुरीले स्वर का ही रहेगा, चाहे स्वरलिपियाँ (अब तक की रूढ़ नियम-नीतियाँ) बदल जायँ। शरीर ही जीवन नहीं है, शरीर के आधार से हम जो चरितार्थ करते हैं वही जीवन है। भावकाव्य उसी जीवन को ग्रहण करता है।

उपयोगिता की पूर्ति व्यावहारिक कार्यों में है, उसका क्षेत्र औद्योगिक है। उद्योग और भावयोग दोनों अपने-अपने स्थान पर समीचीन हैं, इन दोनों का तुलनात्मक विभाजन कर एक को आवश्यक और दूसरे को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

आवश्यकता पडने पर भावयोग की सीमा मे उद्योग, शातिनिकेतन मे श्रीनिकेतन की भाँति, शोभित हो सकता है।

मनुष्य के भीतर जो भावयोग (काव्य) है, वही उद्योग को भी सहज कर देता है। यदि गान न रहे, यदि काव्य न रहे तो मनुष्य का श्रम अथवा जीवन की वास्तविकताएँ कितनी विकराल हो जायँ, यह खेत जोतता हुआ किसान और सडक कूटता हुआ मजदूर ही बतला सकता है।

काव्य यदि उद्योग को सहज कर देता है तो अभाव मे भी एक भाव बरसा देता है, वहाँ अकिंचन कृषकवधू कहती है—

टूटि खाट घर टपकत टटिओ टूटि।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूटि॥

जो झोपडी मे रहता है, उसके लिए वही सब कुछ नही है। वह न केवल किसान है, न केवल मजदूर, न अन्य श्रमजीवी; वह तो कोमल स्पदनो का प्राणी भी है। झोपडी का किसान भी केवल गाय-बैल की तरह आहार ग्रहण कर ही सतुष्ट नही हो जाता, वह कभी-कभी अपनी तान भी छेडता है, उसके भी कुछ स्वप्न रहते है। वह क्या गाता है, क्या गुनगुनाता है, इसके उदाहरण हमारे साहित्य के 'ग्रामगीत' है, जिनमे छाया-वाद और रहस्यवाद का अभाव नही। उन गीतो मे तो हमारे चिरमूक गाय-बैल भी अपने हृदय के भाव कहते है, स्वय मूक रहकर उन्होने किसानो को ही अपनी भाषा दे दी है। मनुष्येतर

जीवजगत् ने यही भाषा उन रहस्यवादी तपस्वियो को भी दे दी थी, जिन्होने अपने आश्रमो में खग-मृग इत्यादि को अपना पारिवारिक बना लिया था। जैसे परिवार के लोग उपयोगिता के नाम पर ही एक नही है, बल्कि 'अनेक' से 'एक' होने के कारण परस्पर पूरक है, उसी प्रकार हमारे पालित जीवजगत् भी। किंतु भारत के लिए जो कुछ स्वाभाविक एव पारिवारिक है, वह पश्चिम के लिए व्यापारिक है। हाँ, व्यापारिक जगत् ने आज जीवन मे जो विषमता उत्पन्न कर दी है यदि हम उसकी ओर से आँख मूँद लेते है तो आज का शेष गान भी गाने को न रह जायगा। हम गान की रचना तो करे किंतु आसन्न समस्या की ओर से उदासीन भी न हो।

(६)

ससार में अगणित वास्तविकताएँ है, भारत ने सभी वास्तविकताओ को शोभन नही माना। जिन वास्तविकताओ से मानव-जीवन को सुरस मिला, उसने उन्ही की चाशनी मे अपने स्वभाव को ढाला। वह ढली हुई स्वाभाविकता ही हमारे जीवन की कला है। हम यो क्यो न कहे कि वास्तविकता जब स्वाभाविकता बनती है, तभी वह कला हो जाती है। वास्तविकता और स्वाभाविकता मे उतना ही अन्तर है, जितना पश्चिम और भारत मे अथवा व्यापारी और गृहस्थ

मे। व्यापारी और गृहस्थ की सकलन वृद्धि में विज्ञान और काव्य का अन्तर है। विदेशी व्यापारिक जगत् न अपने रूखे सूखे विज्ञान की दूकान मे वास्तविकता की इतनी ढेरी लगा दी है कि वह अपने ही बोझ से आप दवा जा रहा है। भारत ने जब अपनी स्वाभाविकता को अपनी कला बनाया तब उसने मानो वास्तविकता को कवित्व का मनोयोग दिया अथवा विज्ञान को सौन्दर्य प्रदान किया। विज्ञान मे जो कुछ सत्य और शिव है उसे उसने सौन्दर्य-द्वारा मनोरम बना लिया। इस प्रकार उसने वैज्ञानिक वास्तविकता को रूपातरित करे साहित्यिक स्वाभाविकता को जन्म दिया।

जीवन की इसी स्वाभाविकता को सूचित करने के लिए हमारे यहाँ भित्तिचित्रकला का जन्म हुआ था। उन चित्रो मे एक विशेष भारतीय दृष्टिकोण निहित है, वह यह कि कला हमारे चारो ओर के भावमय जीवन से रूप-रग ग्रहण करती रही है। घर के भीतर रहनेवाले अपने शरीर के भीतर (हृदय में) जो कुछ थे, उसी का प्रकाशन इन भित्तिचित्रो से हुआ। गृह को देखकर जिस प्रकार हम गृहपति को जानते थे उसी प्रकार इन भित्ति-चित्रो-द्वारा देह के भीतर रहनेवाले देही को जानते थे; देह के न रहने पर भी देही अपने परिचय के लिए जीवित रहता था। हमारे चारो ओर का जीवन जिस सस्कृति या स्वभाव के साँचे मे ढला हुआ था, उसी के अनुरूप हमारी चित्रकला का रूप-रग

था । जिस प्रकार उन पौराणिक दीवालो पर विविध वर्ण-व्यजित तूलिका दौडती रही, उसी प्रकार हमारे गृहजीवन मे भी एक कला घूमती रहती थी । भारत का जीवन वास्तविकता की भित्ति पर एक काव्य (स्व-भाव) रहा है, मानो पृथ्वी पर हरियाली । उसकी 'स्वाभाविकता' मे वास्तविकता, कविता के लिए आधार थी, आधेय या आराध्य नही । इस प्रकार भारत अपने जीवन मे एक फ्रेस्कोआर्ट का आर्टिस्ट रहा है ।

व्यक्ति के मूर्त्त जीवन मे एक अमूर्त्त कवित्व भी अगोचर है । और सच तो यह है कि वह अमूर्त्त कवित्व ही हमारे मूर्त्त जीवन का प्राण है, विकास है, उसी से हम वास्तविकताओ की मिट्टी मे भी एक जीवित प्रतिमा है । अन्यथा, जीवन हाड-मास की ठठरियो के दुस्सह भार के सिवा क्या रह जाय ? कला के बिना वास्तविकता मृत है, जीवित वास्तविकता ही मानवीय स्वाभाविकता है । काव्य, सगीत, चित्र तथा अन्यान्य कलाएँ हमारे जीवन-पोषक मनोरागो के साहित्यिक स्वरूप है, जिन्हे एक पीढी के बाद दूसरी पीढी, पूर्वजो की वसीयत के रूप में, पाती चली जाती है । इसलिए कला की उपेक्षा कर, साहित्य को, जीवन को, एकमात्र शुष्क वास्तविकता पर ही केंद्रीभूत कर देना भावयोग का लक्ष्य नही हो सकता, उद्योग का हो सकता है । उद्योग ने आवश्यकता से अधिक वास्तविकता पर ध्यान दिया । (लौह-यत्रो की भरमार इसका उदाहरण है ।) अपने व्यावहारिक जीवन

मे जब हम कला को मूर्त्त करते हैं तब हमारा उद्योग भी केवल उद्योग न रहकर, भावयोग की एक कला हो जाता है,— यन्त्रो की कला नही, बल्कि मानवीय श्रम की कला, जीवन की तन्मयता की कला, स्वाभाविक कला।

हाँ, आज का हमारा कला-प्रेम बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गया है। केवल इसी लिए नही कि हम वास्तविकता पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने लगे हैं, बल्कि इसलिए भी कि कला हमारे लिए रूढ़ हो गई है। युग की हलचलो मे जहाँ कला का बहिष्करण तथा वास्तविकता का नवीनकरण (समाजवाद) मध्ययुग तथा आधुनिक युग की विभीषिकाओ-द्वारा उत्पन्न परिस्थितियो की खिन्नता को सूचित करता है, वहाँ नवचैतन्य-युग के प्रश्नो से आँख मूँदकर कला के सरक्षण का ढोग भी एक फैशन-सा लगता है। आज आर्टगैलरियो की कला मुट्ठीभर सम्पन्न व्यक्तियो के लिए एक ललित कौतुक जुटाती है। प्रदर्शनकारी उसे प्रदर्शित करते है, देखनेवाले देखते हैं और कला विद्युद्दीपो मे ज्वलन्त हँसी हँसकर रह जाती है। वह 'दर्शन' नही, प्रदर्शन की वस्तु हो गई है। आज हमे प्रदर्शन को तो छोडना है, साथ ही नवीन वस्तुजगत् की वास्तविकता (अभावजगत्) को चिरकुरूप भी नही हो जाने देना है।

कला-द्वारा इस वस्तुजगत् मे भी भाव-जगत् उसी प्रकार शोभित होगा जिस प्रकार ईट-मिट्टी के मकान के सामने

स्वास्थ्यकर उद्यान। भावजगत, वस्तुजगत् का स्वास्थ्य है। वस्तुजगत् यदि शरीर है तो भावजगत् उसका जीवन।

(७)

मध्ययुग से लेकर आज के अवशेष-मध्यकाल तक हम ऐश्वर्य और सौन्दर्य की रगीनी की उपासना करते आये है। जीवन की यह फैन्शी दिशा राजा-रईसो-द्वारा परिचालित रही है। जिस प्रकार उनके शासन हमारे राजनीतिक नियम थे, उसी प्रकार उनकी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ भी हमारी पसन्द वन गई थी। ससार दोजख वना हुआ था और उसी के मूर्च्छित स्वप्न-लोक मे वैभव के स्तम्भो पर एक जन्नत वसी हुई थी। राजा-रईसो ने महलो मे वैठकर स्वर्ग को प्रत्यक्ष पाया, साधारण लोगो ने झोपडो मे कलपकर महलो का स्वप्न देखा। रईसी जीवन के इसी मॉडल में हमारा अव तक का जीवन ट्रेड होता आया, फलत कला ने भी वही रगत ली। इसके विरुद्ध हमारा असन्तोष तव जगा जव हमने होली के कच्चे रग की तरह उन रगीन स्वप्नो को फू होते देखा।

आज की विवर्ण परिस्थितियो मे फैशन ने कला को वला वना रक्खा है,—यहाँ आह भी ग्रामोफोन मे भरी जाती है। यह हृदय-हीन मनोरञ्जकता, यह सवेदन-हीन कलाप्रियता, मध्ययुग के स्वभाव-विशेष की एक नुमाइश दिखाकर विस्मृति के अन्धकार मे विलीन हो जायगी।

आज कला के सामने वस्तुजगत् और भावजगत् ही नही है, बल्कि दोनो के बीच एक गहन-गर्त्त, अभावजगत् के रूप मे, प्रकट हो गया है। वस्तुजगत् का जो दैन्य, भावजगत् के इन्द्रजाल को अपनी रगीन छत बनाकर आत्मविस्मृत था, आज वही इस इन्द्रधनुषी आकाश को लुप्त होते देखकर अपने अभाव-गह्वर मे चीत्कार कर उठा है। देख रहा हूं कि कितनी गहरी खन्दक मे वह जीवन-शून्य होकर पड़ा हुआ था। कला को, साहित्य को, समाज को, राजनीति को, आज सबको, इस अभावजगत् मे भाव-जगत् लाने के लिए सहयोग करना है। वस्तुजगत् की मासलता में ही भावजगत् की कला-प्रतिमा रूपवान् (साकार) होगी। निरी वास्तविकता को प्रमुख बना देने के लिए नही, बल्कि भावजगत् को पुनर्जन्म देने के लिए, जीवन के विषम-सगीत को सम पर लाने के लिए, यदि हम अभावजगत् को नवजीवन दे सके, वस्तु-जगत् को परिपूर्ण मनुष्य-समाज का स्वर दे सके तो हमारा भाव-जगत् (कला का मनोलोक) सचमुच ही स्वर्गीय हो जाय।

आज के अभावजगत् मे भी हमारे कल्पक कलाकार चिर-अपेक्षित रहेगे, किन्तु उनसे निवेदन यह होगा कि सदियो की जो चेतना कुण्ठित होकर आत्मलिप्सु हो गई है, उसमे आत्म-निरीक्षण का सस्कार उत्पन्न करे। आज हमारे कलाजगत् को वर्ड्सवर्थ-जैसी आत्माएँ चाहिए।

भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-कविता

(१)

उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध—हरिश्चद्र-युग।

हमारे साहित्य मे हरिश्चद्र-युग रीतिकाल का अतिम युग है। साथ ही, वर्तमान हिंदी-साहित्य के पृष्ठभाग का प्रथम स्तर भी वही है। वह प्राचीन और नवीन के समन्वय का युग है। वह हमारे साहित्य का पूर्ण प्रभात नही, बल्कि उष काल है, जहाँ रीति-युग की साहित्यिक सध्या की अतिम परिणति और नवीन युग के राष्ट्रीय प्रभात की पूर्व-सूचना है। हरिश्चद्र-युग ने रीति-काल की काव्य-कला को पूर्वजो के थाती-स्वरूप अपनाया, साथ ही नवीन सपत्ति के अर्जन-स्वरूप उसने उन्नीसवी शताब्दी की सामाजिक और राजनीनिक चेतना से साहित्य के लिए नये उपकरण भी लिये। चूँकि नवीनता के लिए वह प्रथम प्रयास था इसलिए उस युग मे साहित्य के नये उपकरण विशेष नही, पुराने उपकरण ही अधिक है—भारतेदु तथा उनके युग के अन्यान्य साहित्यिको की गद्य-कृतियो मे।

राजनीतिक चेतना ने सभा-सोसाइटियो को जन्म देकर गद्य को प्रधान बना दिया था, फलत हरिश्चद्र-युग ने भी गद्य को अपना लिया। वह साहित्यिक रूढिवादी होने के कारण

कविता में परिवर्तन करने को विशेष तैयार न था, किंतु एक अतिथि के रूप में गद्य को अपना लेने में उसे सकोच न हुआ। साहित्य में बंकिम का उदाहरण उसके सामने था, अतएव नवीन पुकार सुनाने के लिए उसे भी कुछ सबल मिल गया। अपने काव्य से वह सतुष्ट था, निदान नवीन कला के लिए उसने नाटको और कहानियो के रूप में कथासाहित्य को ही चुन लिया।

इसके बाद बीसवी शताब्दी का प्रारभ होता है, यहाँ साहित्य में प्राचीन और नवीन की सधि टूटने-सी लगती है—देश में केवल नवीन युग का प्रभात चमकने लगता है। साहित्य मे, समाज मे, देश मे, केवल नवीनता ही नवीनता की पुकार गूँज उठती है, प्राचीनता के प्रति असतोष हो जाता है। फलत: रीति-काल की कविता और ब्रजभाषा दोनो को विदाई दी जाने लगी। किंतु ब्रजभाषा के चले जाने पर हिंदी-कविता सूनी पड रही थी, नवयुवको का भावुक हृदय काव्य-विहीन कैसे रहता? इधर गद्य मे खडीबोली सशक्त हो रही थी, नवयुवको ने कविता मे उसे ही स्थान दे दिया। यही द्विवेदी-युग है, वर्तमान खडीबोली की कविता उसी की देन है।

मध्यकाल के इतिहास की समाप्ति के साथ ब्रजभाषा की कविता के पतझड में खडीबोली का जो नवीन वसत पल्लवित हुआ, उसने शृंगार के शयन-कक्ष की ओर नहीं देखा। वह

नवीन अभिमन्यु सीधे राष्ट्रीय सग्राम मे चला गया। जाने से पूर्व उसने अपनी सस्कृति के अनुसार प्रभु-स्तवन किया, पूर्वजो के आदर्शों का स्वस्ति-वचन श्रवण किया, और इस बार उसने अग्निवाण लेकर नही, मानव-परित्राण का व्रत लेकर राष्ट्र तथा साहित्य मे प्रवेश किया।

हाँ तो, खडीबोली की कविता पहले भक्ति और राष्ट्रीयता को लेकर उद्गत हुई। हमारे काव्य मे पहले सूर और तुलसी जगे, फिर तिलक, गोखले, गाधी और रवीन्द्र भी। भक्ति और राष्ट्रीयता ने शृगार-मलिन नेत्रो को स्वच्छ करने मे 'वोरिक-एसिड' का काम किया। नवीन दृष्टि प्राप्त होने पर हमारे समाज ने अपने आदर्शों के अनुसार अपना नवीन आत्म-विस्तार किया। भक्ति और राष्ट्रीयता की दिशा में हमारे सार्वजनिक अभाव बोलते रहे, नवीन आत्मविस्तार मे हमारे भाव भी बोलने लगे। काव्य का कठ भक्ति और राष्ट्रीयता तक ही सीमित न रहकर दैनिक जीवन के प्रसार की भाँति मुक्त हो गया। गुप्त जी के उत्तरकालीन काव्य तथा छायावाद की रचनाएँ इसी नवोत्कर्ष के उदाहरण है।

द्विवेदी-युग में भी कुछ वयोवृद्ध कवि हरिश्चद्र-युग के अवशिष्ट प्रतिनिधि-स्वरूप रहे, जिनमें उपाध्याय जी, रत्नाकर जी और श्रीधर पाठक जी गण्यमान है। उपाध्याय जी और पाठक जी हरिश्चद्र-युग और द्विवेदी-युग के वीच के है, गुप्त जी द्विवेदी-

युग और छायावाद-युग के बीच के। उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' द्वारा खड़ीबोली का साथ दिया, 'रस-कलश' द्वारा ब्रजभापा का। रत्नाकर जी आजन्म ब्रजभाषा के हामी रहे। अपने अंतिम साहित्यिक-जीवन मे उन्होने खड़ीबोली के भी दो-चार पद्य लिखे, कौतूहलवश। पाठक जी ने अपनी काव्य-कृतियो-द्वारा ब्रजभाषा और खडीबोली दोनो का एक तत्का-लीन परिधि की सुरुचि मे साथ दिया।

(२)

सर्वश्री स्वर्गीय श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिली-शरण गुप्त, गोपालशरणसिंह, जयशंकर 'प्रसाद', माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा', रामनरेश त्रिपाठी, सियाराम-शरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय, द्विवेदी-युग के आदरणीय कवि है। इस युग मे दो प्रवृत्तियो का दर्शन मिलता है—एक मे पौराणिक संस्कृति और मध्यकालीन काव्य-कला का विकासोन्मुख प्रकाशन है, दूसरी में केवल हार्दिक भावो का नवीन कला-प्रस्फुटन। पहली के अंतर्गत पाठक जी, उपाध्याय जी, गुप्त जी और ठाकुर साहब है, दूसरी के अंतर्गत 'प्रसाद' जी, चतुर्वेदी जी, सियाराम जी, त्रिपाठी जी और मुकुटधर। इन दोनो प्रवृत्तियो मे कुछ साम्य भी है—प्रथम विभाग के सभी कवियो ने स्वतंत्र हार्दिक भावो को भी अपनाया, द्वितीय विभाग के कवियो ने यत्किंचित् सामयिक राष्ट्रीय भावो को भी; विशेपत चतुर्वेदी जी, त्रिपाठी जी, सियाराम

जी ने। कारण, काव्यप्रेरक गुप्त जी हैं। कविता और राष्ट्रीयता दोनों के प्रतिनिधित्व का श्रेय वर्तमान खड़ीबोली में उन्हें प्राप्त है। प्रथम विभाग के कवियों में यदि गुप्त जी अग्रणी हैं तो द्वितीय विभाग में प्रसाद जी और चतुर्वेदी जी। गुप्त जी ने खड़ीबोली की स्वाभाविकता को जगाया, प्रसाद जी और चतुर्वेदी जी ने उसकी भावुकता को। प्रसाद जी और चतुर्वेदी जी के बाद जो नवयुवक भावुक कवि उत्पन्न हुए, उन्होंने भी खड़ीबोली का अनुराग गुप्त जी की रचनाओं से पाया, क्योंकि प्रसाद जी और चतुर्वेदी जी की भावुकता के धरातल पर आने के लिए प्रथम-प्रथम गुप्त जी का काव्य-साहचर्य आवश्यक था और सच तो यह कि खड़ीबोली की कविता का व्याकरण उन्हीं की रचनाओं में था, बिना उन्हें जाने कोई आगे जा ही नहीं सकता था।

(३)

द्विवेदी-युग में खड़ीबोली की कविता के सीनियर कवि पाठक जी, उपाध्याय जी और गुप्त जी हैं।

वर्तमान हिंदी-कविता में नवीनता का श्रीगणेश करने का प्रयत्न पाठक जी ने किया अँगरेजी के साहचर्य से, गुप्त जी ने बँगला के साहचर्य से। किंतु पाठक जी ने स्वतन्त्र रचनाएँ उतनी नहीं दीं जितनी कि गोल्डस्मिथ की अनूदित रचनाएँ। गुप्त जी ने स्वतन्त्र रचनाएँ भी अधिक दीं, और माइकेल के

प्रचुर काव्यानुवाद भी। पाठक जी खड़ीबोली को निखार न सके, व्रजभाषा के मोह ने उनकी खड़ीबोली को एक मिश्रित भाषा का रूप दे दिया। उनका व्रजभाषा-मोह देखकर ज्ञात होता है कि नवीनता के नाम पर वे व्रजभाषा में अँगरेजी के क्लासिकल स्कूल की कला के एक प्रतिनिधि थे। अँगरेजी शासन आज की अपेक्षा यदि मध्ययुग मे ही आगया होता तो व्रजभाषा के काव्य का जो अप-टू-डेट रूप होता, वही पाठक जी की कविता मे है।

गुप्त जी ने खड़ीबोली को खड़ीबोली के रूप मे ही साजा। उन्होंने खड़ीबोली को विशुद्ध, सुन्दर और प्रवाहपूर्ण बनाया। गुप्त जी ने खड़ीबोली को ओज दिया, ठाकुर गोपालशरणसिंह ने माधुर्य। गुप्त जी ने ओज के साथ ही भावो और छंदो को भी यथासभव विविधता और विपुलता दी। ठाकुर साहब ने मध्य-काल की मर्यादा के भीतर एक नवीनता 'माधवी' में उत्पन्न की। 'माधवी' की कला इस अर्थ मे नवीन है कि उसमें खड़ीबोली की भाषा और खड़ीबोली के अनुरूप एक कोमल भावना है, किन्तु छद (कवित्त और सवैया) तथा आलवन अधिकांशत मध्यकालीन हैं। व्रजभाषा के ये परिचित छद और आलवन खड़ीबोली मे भी कितना सगठित हो सकते है, इसका निदर्शन पहले-पहल 'माधवी'-द्वारा ही हुआ, यह मानो रत्नाकर जी के लिए खड़ीबोली का निमंत्रण था। कतिपय

ब्रजभाषाप्रेमी किंतु खड़ीबोली के नवयुवक कवियो-द्वारा 'माधवी' का अनुसरण भी हुआ। गुप्त जी द्वारा खड़ीबोली के मँज जाने पर ठाकुर साहब का सर्वाधिक सराहनीय प्रयत्न भाषा को सरल-कोमल बनाने का रहा। वृंदावन का एक मध्यकालीन भक्त बीसवी शताब्दी के द्वार पर आकर जब अपना कंठ प्रस्फुटित करेगा तो उसकी भाषा वह होगी जो ठाकुर साहब की खड़ीबोली मे है।

द्विवेदी-युग मे आवश्यकता इस बात की भी थी कि जिस प्रकार ओज को लेकर गुप्त जी ने काव्य-कला के अंतरंग और बहिरंग को नवीनता और विस्तीर्णता दी, उसी प्रकार माधुर्य को लेकर भी कोई कवि अग्रसर होता। इस आवश्यकता की पूर्ति आगे चलकर छायावाद-स्कूल ने की। छायावाद-स्कूल मे पंत जी उसी प्रकार लोकप्रिय हुए, जिस प्रकार द्विवेदी-युग मे गुप्त जी। इस पर्वतीय कवि ने ही खड़ीबोली मे पहाड़ो की स्वर्गिक सुषमा भर दी, अपने हृदय के मधु से उसे मधुमय कर दिया, खड़ीबोली मे रूप-रस-गंध भर दिया। यह कहने को नही रहा कि खड़ीबोली तो खुरदुरी है।

(४)

उपाध्याय जी का काव्यादर्श चिरप्राचीन रहा। हरिश्चंद्र-युग मे, गद्य मे, जो जाग्रत् सामाजिक आदर्श तथा काव्य मे ब्रजभाषा का मध्यकालीन माधुर्य भाव था, उन्ही दोनो की एकता

से उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' की रचना की। उपाध्याय जी मुख्यतः भावना के कवि हैं, आँसुओं की भाँति सजल-कोमल। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी का अंत और बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ चिंतना से हुआ। उपाध्याय जी जिस कोमल-कांत भावना के कवि होकर चले, उस समय उस माधुर्य-भाव के लिए खड़ीबोली की भाषा मँज न सकी थी, यही कारण है कि 'प्रिय-प्रवास' की भाषा और श्रीधर पाठक की रचनाओं की भाषा में खड़ीबोली की पूर्ण स्वच्छता नहीं है। चिंतना के लिए खड़ीबोली गद्य में मँज चली थी। गुप्त जी चिंतना के पथ पर चले; फलतः वे विशेष कृतकार्य हुए।

उपाध्याय जी करुणा के कवि हैं। वस्तुजगत् के कवि नहीं, बल्कि भावजगत् में प्रकृति-पुरुष के बीच व्याप्त विरह (ट्रैजडी) के कवि हैं, मानो सूक्ष्मतम सजलता के कवि।

'प्रिय-प्रवास' के बाद, उसकी भूमिका में 'वैदेही-वनवास' लिखे जाने की सूचना उनकी इसी कोमल रुचि की सूचक थी। उनका 'प्रिय-प्रवास' 'विरहिणी-व्रजांगना' ही होने लायक था, क्योंकि इस काव्य में पंचदश सर्ग ही अन्य सर्गों की अपेक्षा अधिक मर्मव्यंजक है। अन्य सर्ग या प्रसंग तो उसमें आलवालमात्र हैं। उपाध्याय जी की करुण-वृत्ति 'प्रिय-प्रवास' जैसे महाकाव्य के बजाय एक मार्मिक खंडकाव्य की अपेक्षा रखती थी।

उपाध्याय जी ने व्यावहारिक आदर्श के लिए 'प्रिय-प्रवास' में यथार्थवाद का चित्रपट ग्रहण किया है। कृष्ण-चरित्र के अंकन में वे देश-सेवा के सामयिक आंदोलनों से प्रेरित थे। किन्तु जिस काल (उन्नीसवीं शताब्दी के अंत) की देश-सेवा से वे प्रेरित थे, उस काल का क्षेत्र परिमित था, उसी के अनुरूप उन्होंने प्रभु कृष्ण का मानव-पक्ष दिखलाया। उस समय हमारे सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाएँ नहीं आई थीं। स्त्री-शिक्षा का आंदोलन शुरू हो चुका था, फिर भी पुरुष की भाँति नारी भी कर्मक्षेत्र में अग्रसर हो, यह दूर का स्वप्न था। इसी लिए 'प्रिय-प्रवास' में हम राधा का कोई नवीन विशद चरित्रांकन नहीं पाते। उसमें राधा का सेवा-भाव माधुर्य-भाव की रक्षा के लिए है। उस युग की नारी इससे अधिक और क्या करती? यदि उपाध्याय जी आज 'प्रिय-प्रवास' लिखते तो उसका कुछ और ही स्वरूप हो जाता।

करुणा की शांति लोक-सेवा में है, इसी लिए 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण कर्मठ रूप में दिखाये गये हैं। राम के जीवन में जो लोक-मंगल का भाव है, वही 'प्रिय-प्रवास' में भी दिखाने का प्रयत्न किया गया। किन्तु कृष्ण की उपासना हमारे यहाँ माधुर्य-भाव में ही की गई, अतएव उपाध्याय जी भी विप्रलंभ शृंगार में ही मार्मिक रहे। कृष्ण के लिए लोक-संग्रह जैसे सार्वजनिक पथ पर चलने का सौकर्य उन्हें पूर्ववर्ती कवियों से प्राप्त नहीं था,

इसी लिए वे कृष्ण के लोक-चरित्र को अकुरित ही कर सके, विकसित नही।

गुप्त जी को राम के लोक-चरित्र-चित्रण के लिए अपने पूर्व-वर्ती कवियो से भी साधन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त 'साकेत', 'द्वापर', 'अनघ', 'यशोधरा', 'त्रिपथगा', 'स्वदेश-सगीत' उन्होने उस युग मे लिखा, जब गाधी का भारत चतुर्दिक् जग चुका था, मनुष्यता के विकास के आयोजन सचेष्ट हो गये थे, अतएव उन्होने अपने पौराणिक काव्यो मे नव-प्रबुद्ध भारत का पूर्ण उपयोग किया। उन्होने प्राचीनता मे नवीनता ला दी। वे साहित्य और सस्कृति दोनो ही दृष्टि से हिदी के राष्ट्रीय प्रति-निधि हुए। जिस नये चिंतित युग को 'प्रिय-प्रवास' द्वारा उपाध्याय जी ने छूना चाहा, वह गुप्त जी का ही आलवन था। उपाध्याय जी केवल कवि है, गुप्त जी वैतालिक भी।

उपाध्याय जी की भाँति श्रीधर पाठक जी भी कोमल रस के कवि थे। पाठक जी की तरह ही यदि उपाध्याय जी भी अपने एकमात्र रस मे रमे रहते तो आज उनके रचना-प्रसूनो का कुछ और ही मधु-गध होता। पाठक जी भी भावना के कवि थे, उन्होने जहाँ चितना को ग्रहण करने का प्रयत्न किया वहीं कविता विडवना मे पड गई, किंतु अपने जीवन का अधिकाश उन्होने भावना की ओर ही लगाया। किसी कवि के लिए सबसे बडी बात यह है कि वह आत्म-निरीक्षण करके अपने साध्य पथ

का सधान कर ले। प्रत्येक कवि की अपनी अपनी विशेष साधना होती है, उसी विशेष साधना को सफल करना ही कवि के काव्य की सफलता है।

(५)

खडीबोली का प्रथम यौवन नेतृत्व लेकर आया था। गुप्त जी उसके नेता थे, मस्तिष्क थे, द्विवेदी जी प्रोत्साहक और आशी-र्वादक। उस समय खडीबोली को शक्ति देने के लिए मस्तिष्क की ही आवश्यकता थी। किंतु इस बीसवी शताब्दी का एक दूसरा यौवन भी जागरूक रहा, यह केवल हृदय का यौवन था। इसका बाल्यकाल उपध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' मे है, और पाठक जी और ठाकुर साहब की रचनाओं मे भी। प्रसाद और माखनलाल इसी यौवन के नवोदित अगुआ थे। मस्तिष्क-पक्ष-द्वारा खडीबोली को सुरक्षा मिल जाने पर ही यह दूसरा यौवन गतिशील हुआ।

प्रसाद जी और माखनलाल जी की रचनाओ ने खडीबोली के उस कल्पवृक्ष मे, जिसे द्विवेदी-युग के कवियो ने लगाया था, छायावाद की दो शाखाएँ बनाई। प्रसाद जी कालिदास की कला लेकर चले, माखनलाल जी मध्यकाल का माधुर्य-भाव। देश-काल की साहित्यिक प्रगति से दोनो की अभिव्यक्तियो ने नवीनता ली।

प्रसाद जी की कला आधुनिक पश्चिमीय काव्य-कला के सहयोग में है; माखनलाल जी की अभिव्यक्ति उर्दू के तर्ज़-बयाँ में कुछ मध्यकालीन। एक की भाषा सांस्कृतिक हिंदी है, दूसरे की भाषा अंशतः हिंदुस्तानी। एक में भाव-विदग्धता है, दूसरे में वाग्विदग्धता। प्रसाद जी अधिकांशतः भावना के कवि हैं, चतुर्वेदी जी चिंतना के। चिंतना को उन्होंने एक मुक्तक-परिमाण में गुप्त जी की अपेक्षा कुछ और कवित्व दिया।

प्रसाद जी ने जिस छायावाद का प्रवर्तन किया, उसे अपनी-अपनी रसात्मकता से विविध रूप से सिंचित-पुष्पित करनेवाले कवि हैं—सर्वश्री मुकुटधर पांडेय, गोविंदवल्लभ पंत, सुमित्रा-नंदन पंत, महादेवी वर्मा रामकुमार वर्मा इत्यादि। चतुर्वेदी जी की काव्य-धारा के अंतर्गत सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गोकुलचंद्र शर्मा, जगन्नाथप्रसाद खत्री 'मिलिंद', गुरुभक्तसिंह, गोपालसिंह नेपाली, 'शाखाल', 'बच्चन' इत्यादि। 'नवीन', 'मिलिंद', नेपाली, 'बच्चन' तथा सी० पी० स्कूल के तरुण कवियों ने यथास्थान दोनों स्कूलों के बीच संयोजन भी किया है, विशेषकर पंत अथवा महादेवी की कला के साथ। छायावाद के सब नवयुवक-कवियों में से कोई कभी चतुर्वेदी जी की शाखा के किसी कवि के साथ, कभी प्रसाद शाखा के किसी कवि के साथ अपने मन का रंग मिला-कर चित्र लिखते हैं। इसमें कला तो दूसरे कवि की प्रधान

रहती है, भाव अपना रहता है, अर्थात् भिन्न शरीर मे निजी हृदय। एक अन्य प्रकार के वे कवि है जिन्होने प्रसाद और चतुर्वेदी-शाखा के किसी एक या एकाधिक कवि की कला को मिश्रित कर ऐसी स्वतत्र पदावली बना ली है जो मिश्रित होकर भी अमिश्रित-सी है। मिश्रण और अमिश्रण के अतिरिक्त ऐसे भी नवयुवक कवि है जिन्होने प्रसादग्रूप के किसी एक मनोनुकूल कवि की ही कला को लेकर अपना हृदय अकित किया है, प्रधानत प्रसाद, पत या महादेवी मे से किसी एक की कला को। इस प्रकार के कवियो पर सबसे पहले पत का प्रभाव अधिक पडा, इसके बाद गीति-काव्य के क्षेत्र मे महादेवी का।

प्रसाद और माखनलाल की काव्य-धाराओ का अन्तर भावना तथा चिंतना का है। जिन्होने दोनो कूलो से सहयोग किया उन्होने भावना और चिंतना का सम्मिलन किया। किन्तु द्विवेदी-युग से ही भावना और चिंतना का एक मिश्रण सास्कृतिक स्वरूप मे गुप्त जी की कविताओ-द्वारा चला आ रहा था। अतएव, गुप्त जी के बाद, एक कवि-समूह वह है जो प्रसाद और माखनलाल-स्कूल की कला के सयोजन मे नही, बल्कि अपनी स्वतत्र मनोधारा से भावना और चिंतना को सम्मिलन देता आया है। ऐसे कवियो मे सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' और इलाचन्द्र जोशी है। जिस प्रकार खड़ी बोली को गुप्त जी ने ओज और पत जी ने माधुर्य दिया, उसी प्रकार इस मनोधारा मे

निराला जी ने ओज और जोशी जी ने ठेठ लालित्य का परिचय दिया।

भावना और चिंतना के सम्मिश्रण की आवश्यकता भावजगत् और वस्तुजगत् के एकीकरण के लिए पड़ती है। यह एकीकरण निराला जी ने गुप्त जी की भाँति वैष्णव संस्कृति के माध्यम से भी किया और 'युगांत' में पंत जी ने, तथा 'कामायनी' में प्रसाद जी ने भी अपने-अपने ढंग से। प्रसाद जी ने उन मनोवृत्तियों का पौराणिक रूपक ग्रहण किया जो विश्व-जीवन के संचालन में सुन्दर सहायक हैं, पंत ने उन चेतनाओं को जो युग की शिराओं में सद्य सजग हैं।

(६)

द्विवेदी-युग और छायावाद-युग की कविता में कुछ भाव-साहचर्य होते हुए भी कला की व्यंजकता में अन्तर था——

निशांत में तू प्रिय-स्वीय कांत से
पुनः सदा है मिलती प्रफुल्ल हो।
परंतु होगी न व्यतीत ऐ प्रिये,
मदीय घोरा-रजनी-वियोग की।

—हरिऔध

विजन निशा में किंतु गले तुम
लगतो हो फिर तरुवर के,

आनंदित होती हो सखि ! नित
उसकी पद-सेवा करके ।
और हाय, मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि-दिन, वन-वन,
नहीं सुनाई देती फिर भी
वह वंशी-ध्वनि मनमोहन !

—पंत

तरु-शिखा पर थी अवराजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

—हरिऔध

तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग*
उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड में रे किस मग !

—पंत

पूरा-पूरा परम प्रिय का मर्म मैं जानती हूँ;
है जो वाञ्छा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।

—हरिऔध

मौन है, पर पतन में—उत्थान में,
वेणु-वर-वादन-निरत विभु गान में।

---

* सान्ध्यकालिक प्रकाश

है छिपा जो मर्म उसका समझते,
किंतु फिर भी है उसी के ध्यान में।

—निराला

अपने सुख में मस्त जगत को
कर न तनिक भी कभी दुखी;
दुखिया का दुख वह क्या जाने
जो रहता है सदा सुखी।

—गोपालशरणसिंह

खाली न सुनहली सन्ध्या
मानिक मदिरा से जिनकी,
वे कब सुननेवाले हैं
दुख की घड़ियाँ भी दिन की।

—प्रसाद

इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदी-युग का पद्योन्मुख गद्य भी काव्य की ललित सज्ञा (रसात्मकता) ग्रहण करने मे सलग्न रहा। उस युग का काव्योत्कर्ष छायावाद-युग मे गुप्त जी के 'साकेत', 'यशोधरा' इत्यादि काव्यो तथा ठाकुर साहब की 'कादबिनी' और सियारामशरण जी की कविता-पुस्तको मे प्रकट हुआ। इन कवियों ने द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के कला-पार्थक्य को यथासम्भव ऐक्य दिया।

(७)

द्विवेदी-युग के कवि द्विवेदी-युग की प्रगति से ही चले। द्विवेदी-युग की प्रगति अन्त प्रान्तीय साहित्यो के सहयोग मे थी, जिनमे उन्नतिशील बँगला-साहित्य नवीनता के लिए अपनी ओर विशेष आकर्षण रखना था। चूँकि खड़ीबोली का आरम्भ ताज़ा था, उसके सामने रीति-काल की कविता की परम्परा का तकाज़ा भी चला आ रहा था, इसलिए साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी-युग एक विशेष प्रकार की सस्कृति और कला के बन्धन मे बँधा हुआ धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा था। उसकी प्रगति एक वयोवृद्ध सुधारक की-सी थी, न कि एक नवोद्‌बुद्ध उद्योगी की-सी, इसी लिए उसकी मथर गति माइकेल-काल की-सी बगीय साहित्यिक नवीनता की ओर बढ रही थी। माइकेल ने अपने समय में जो कलात्मक नवोद्‌बुद्धता दिखलाई वह मध्यकालीन पूर्वीय और पश्चिमीय काव्य-साहित्य के आधार पर निर्मित नवीनता थी।

माइकेल के बाद बगीय काव्य मे नव-प्रवर्तन का श्रेय रवीद्रनाथ ठाकुर को है। रवि बाबू ने भी 'भानुसिंहपदावली' द्वारा मध्यकालीन परम्परा के आधार पर ही नवीनता उत्पन्न करने का प्रारम्भिक प्रयत्न किया, परन्तु उन्हे इससे सतोष न हुआ। उन्होंने विश्व-साहित्य के साहचर्य से आमूल परिवर्तन का महोत्सव किया। उन्होंने काव्य की आत्मा (सस्कृति, अशत सतो की सस्कृति) तो सूक्ष्म-रूप से भारतीय ही रक्खी, किन्तु उसका

कला-शरीर (व्यजना और शैली) रोमांटिक युग के अँगरेजी काव्य से ग्रहण किया। हिन्दी-कविता मे द्विवेदी-युग के बाद जो नवजाग्रत नवयुवकदल उदित हुआ, उसने खडीबोली का सस्कार द्विवेदी-युग से पाया, कला की प्रेरणा रवीन्द्रनाथ से पाई, इसके बाद उसके लिए भी सप्त-सिंधु-पर्यंत विश्व-साहित्य खुला हुआ था। इस प्रकार उसने भारतीय प्रेरणाओ से पश्चिमीय साहित्य-कला का सचयन किया है।

द्विवेदी-युग की प्रगति द्विवेदी-युग के लेखको और कवियो तक सीमित रह गई। वह युग अनुदार नही था, वह भी आधुनिक था, किन्तु उसकी आधुनिकता क्लासिकल थी। साहित्य मे इस काल की बडी विशेषता यह है कि उससे एक-देशीय सस्कृति को विशेष सरक्षण मिलता आया है। द्विवेदी-युग के कवियो ने पौराणिक भारतीय सस्कृति को सुरक्षित रक्खा। नवीन युग का साहित्य जब कि पूर्व और पश्चिम का एकीकरण कर रहा है, द्विवेदी-युग का साहित्य पूर्वीय ही अधिक है। जिन्हे अपनी जातीयता से प्रेम है वे द्विवेदी-युग के कवियो से विशेष रस ग्रहण करेंगे, परन्तु जिनके साहित्याध्ययन की प्रमुख प्रेरणा जातीयता ही नही, कला-विदग्धता भी है, वे दोनो ही युगो की रचनाओ से रस लेंगे।

निर्देश किया जा चुका है कि वर्तमान हिन्दी-कविता मे हिन्दी से भिन्न साहित्यो की भी कला-प्रेरणा है। किन्तु इस प्रेरणा के

मूल मे भारतीयता (अपना अस्तित्व) अक्षुण्ण है, भारतीयता के क्षेत्र मे खडीबोली की कविता मुख्यत' सस्कृत-काव्य-साहित्य से लाभान्वित है, और अशत मध्य-काल की हिन्दी-कविता से। द्विवेदी-युग के कवियों मे यह भारतीयता बहुत स्पष्ट है और नवीन युग के कवियो में सूक्ष्म सूत्रवत्। मध्य-कालकी जो काव्य-धारा हमारी शिराओ मे सस्कृति होकर बह रही थी वह द्विवेदी-युग के कवियो मे देशकाल के भीतर थी, नवीन कवियों में देश-काल से ऊपर भी। दोनो पीढियो मे यदि भारतीयता का सूत्र न होता तो द्विवेदी-युग के कवियो में गुप्त जी तथा ठाकुर साहब को नवीन काव्य-कला रुचिकर न होती, नवीन युग की कविता और ये दो युग आपस मे एक दूसरे से अपरिचित ही रह जाते। सौभाग्यवश ही द्विवेदी-युग ने नवीन युग मे आकर एक पूर्वज की भाँति यहाँ का कुशल-क्षेम ले लिया।

अब तक की वाह्य और अत प्रगतियो का साराश है यह—भारतेन्दु-युग मे प्रथम-प्रथम साहित्य को सार्वजनिक जागृति मिली, द्विवेदी-युग मे हिन्दी-कविता व्रजभाषा से खडीबोली मे आई, छायावाद-युग मे उसे कला-विकास मिला, तात्कालिक राजनीतिक युग मे कुछ नवीन रोमांटिक-विचार भी।

भारतेन्दु-युग की सार्वजनिकता को गुप्त जी ने आगे बढाया। उधर उपाध्याय जी, पाठक जी, ठाकुर साहब, मध्ययुग के जिस

अवशेष कोमल आभिजात्य को लेकर चले आ रहे थे, उसे प्रसाद ने छायावाद का अन्तःप्रकाश दिया, पंत ने 'पल्लव' में मनोहर प्रशस्त विकास, महादेवी ने अनादि नारी-हृदय की संगीत-साधना। इन सबसे भिन्न माखनलाल ने मध्ययुग की हिन्दू-मुस्लिम-मयी भावुकता का एकत्रीकरण दिया।

खड़ीबोली की कविता में निराला जी ने एक मुक्त-क्रान्ति की, किन्तु पंत ने 'पल्लव' की कोमलता में शान्ति-पूर्वक ही उसे नवीन काव्य-युग से मिला दिया। निराला और पंत के छंदों में जितना अन्तर है, उतना ही दोनों की कलात्मक-नवीनता के व्यक्तित्व में।

सामयिक राजनीतिक उथल-पुथल में गुप्त जी और निराला जी मध्ययुग की भूमि पर हैं, कला में प्रवर्तक होते हुए भी संस्कृति में क्लासिकल हैं। इधर पंत जी समाजवादी चेतना की सतह पर संस्कृति में रोमांटिक हैं। मानव-संवेदना, तीनों की कविताओं में है। किन्तु गुप्त जी और निराला जी की कविताओं में करुणा नहीं, दया-दाक्षिण्य है। दोनों की भिक्षुक-सम्बन्धी कविताओं की वृत्ति एक है। यह उस युग का दया-दाक्षिण्य है, जहाँ राजा दीन प्रजा को इनायत की दृष्टि से देखता है। पंत की संस्कृति में वह संवेदना है जहाँ मनुष्य दया-दाक्षिण्य पर निर्भर नहीं, बल्कि जन्मसिद्ध मानवता का अधिकारी है। अवश्य ही गुप्त जी

की संस्कृति नवीन राष्ट्रीयता से भी ओत-प्रोत है. महात्मा जी के पथ-निर्देश में; जिसमे गुप्त जी की अवसर-ग्राहिता सूचित होती है। इसके विपरीत निराला जी की संस्कृति हिन्दुत्व-प्रधान है। 'जागो फिर एक बार' और 'महाराज शिवाजी का पत्र' शीर्षक कविताएँ इसके लिए द्रष्टव्य है।

संस्कृति के प्रचार-क्षेत्र मे आकर हिन्दी-कविता अनिवार्यत. गद्य भी बन गई है, गुप्त जी, निराला जी और पंत जी, तीनो की कविताओ में इसके उदाहरण है। ऐसे समय में जब कि निश्चित संस्कृति अभी भविष्याधीन है, हिन्दी-कविता के कंठ में वह काव्य भी बनाये रखना होगा जिसके द्वारा भावी युग अपना स्वागत संगीत मे ही पा सके। महादेवी जी इस ओर तन्मय हैं।

(८)

भारतेन्दु-युग की भूमिका पर खड़ीबोली जब अपने प्रारम्भिक प्रयास से खड़ी हुई, तब उसकी दशा दयनीय थी। उसके प्रयास में शैशव था। बीसवीं शताब्दी का विश्वदोलित युग भारत की चेतना मे नवीन जागृति, नवीन स्फूर्ति, नवीन आकांक्षाओ का सृजन कर रहा था। खड़ीबोली को इसी युग के राष्ट्र और साहित्य का सजीव प्रतिनिधित्व करना था। उसके दुर्बल कधों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। हरिश्चन्द्र-युग ने इस भार को कुछ हलका कर दिया था। किन्तु खड़ीबोली के

सामने एक शताब्दी के जीवन का ही प्रश्न नहीं, बल्कि ब्रजभाषा की भाँति ही उसके सामने भी अनेक शताब्दियाँ है। फलत. उसे अपने शैशव के प्रयासो मे ही एक सुदृढ अस्तित्व ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत होना पड़ा।

खड़ीबोली की कविता किस बाल्यकाल से वर्तमान काल तक पहुँची है, इसका परिचय उस समय की उन कविताओं से मिलता है, जिन्हे लक्ष्य कर सन् १९१६ की 'सरस्वती' मे प० कामता-प्रसाद गुरु ने लिखा था—

"वे लोग (कविगण) तन और धन की सुन्दरता का वर्णन करते है पर मन की सुन्दरता का नाम नही लेते। राजभक्ति सिखाते है, पर देशभक्ति नही सिखाते। रण की कटाकट का वर्णन घर बैठे करते है, परन्तु शूरता और साहस का उपदेश नही देते। शब्दालकारो को छोड, उन्हे अर्थालकार सूझता ही नही। कोई-कोई कुनैन मच्छड और खटमलो को ही कविता के योग्य विषय मानते है।'

खड़ीबोली की कविता की यह प्रारम्भिक प्रगति हास्यपूर्ण अवश्य है, परन्तु उसकी वर्तमान उन्नति देखकर उसके प्रति अवज्ञा नही होती। उस समय के उन्ही झाड-झखाडो ने आज के कुसुमित काव्य-कानन के लिए खाद्य (खाद) का काम दिया था।

उस समय के कवियो की विफलता का कारण यह नही कि "रण की कटाकट का वर्णन घर-बैठे करते है, परन्तु वे शूरता और साहस का उपदेश नही देते।" यदि वे उपदेश देते तो उनकी कविताओ का हद-से-हद हमे वह रूप मिलता जो आगे चलकर राष्ट्रीय कविताओं मे प्रकट हुआ। वे राष्ट्रीय कविताएँ साहित्य और देश के इतिहास की वस्तु अवश्य है, उनका एक विशेष सामयिक मूल्य है, किन्तु वे काव्य की स्थायी सम्पत्ति नही है। इतिहास कभी स्थायी नहीं होता, पुराण (परिपक्व-इतिहास) ही स्थायी होता है। इतिहास ही पुराण बनता है, परन्तु कब? जब उसमे सास्कृतिक बल रहता है। जिन राष्ट्रीय कविताओ मे सामयिकता ही नही, बल्कि चिरन्तन सस्कृति (शाश्वत अनुभूति) है, वे साहित्य की अचल सम्पत्ति हो सकती है। सामयिक कविताओ की विफलता का कारण उनमें उन स्थायी भावो का अभाव है, जो अपने विभाव-अनुभाव-द्वारा रस-पुष्ट होकर मन को गति देते है। मनोगति से ही कवि कही भी निःशरीर भी उपस्थित रह सकता है। यह सम्भव नही कि कवि सशरीर ही सर्वत्र उपस्थित रह सके, किन्तु अपनी मनोगति से वह हृदयतः अपने अभीष्ट रसलोक मे उपस्थित रह सकता है, क्योकि वह विश्व-लीला का असाधारण दर्शक है, इसी लिए कहा गया है—'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।' साधारण जन जब खुली आँखो मे ही विश्व को देख

सकते है, तब इसके विपरीत कवि सूरदास होकर भी वह झाँकी पाता है जो लोक-दुर्लभ है। कवि कल्पक है, उसका सत्य केवल प्रत्यक्ष (वर्तमान) तक ही केन्द्रित नहीं, बल्कि वह त्रिकालदर्शी है, अपने-मानसिक नेत्रो द्वारा। इसी लिए उस कल्पक की कृति कल्पान्त तक अमर रहती है।

काव्य मे कविकल्पना का भी एक चैतन्य अस्तित्व है। यदि कवि का मस्तिष्क कोरे पागलो की भाँति विकार-ग्रस्त नही है तो यह निश्चित है कि उसकी कल्पना मे भी एक सार्थकता है। व्यक्ति जब कवि न रहकर साधारण प्राणी-मात्र रहता है तब वह स्थूल वस्तुओ मे ही व्यावहारिक उपयोगिता के कारण सत्य देखता है, अर्थात् वह एक सांसारिक सयाना बना रहता है। किन्तु जिस प्रकार प्रतिदिन की भोज्य सामग्रियाँ ही सत्य नही, उन सबके सुपाच्य से प्राप्त स्वास्थ्य सर्वोपरि सत्य है, उसी प्रकार वास्तविक जगत् की अनुभूति ही सम्पूर्ण सत्य नही, बल्कि अनुभूतियो से निर्मित जीवन ही श्रेष्ठ सत्य है। कवि की कल्पना, वास्तविक अनुभूतियों के निष्कर्ष-रूप उसी जीवन को काव्य मे रस बनाकर प्रवाहित कर देती है। कवि की अनुभूति का पथ, साधारण प्राणियो के अनुभव-पथ से भिन्न होता है। साधारण प्राणी पृथ्वी-प्रदक्षिणा करके ही विश्व को जानता है, क्योकि इसके सिवा उसके पास और कोई साधन नही है। किन्तु कवि के पास सब साधनो मे श्रेष्ठ मन,साधन

(मनोयोग) है, यही उसके लिए टेलिविज़न (दूरदर्शक यन्त्र) का काम करता है, इसी के द्वारा वह श्याम की खाई हुई थोडी-सी मिट्टी मे भी त्रिलोक का दर्शन कर लेता है।

कवि वास्तविकता की उपेक्षा नही करता। वस्तु-गत दृश्य जगत् उसके लिए माध्यम है—उन अदृश्य झाँकियों का आभास पाने के लिए जो अगोचर, अज्ञेय और ध्येय है। जो गोचर है वही सत्य नही, वह तो सत्य का स्थूल रूप है। जो अगोचर है वही परम सत्य है। हम जब बोलते है, हमारी वाणी का कोई रूप नही दिखाई पडता, किन्तु शरीर की अपेक्षा वह स्वर ही अधिक सत्य है, क्योंकि हम देखते है, बोलती बन्द होने पर शरीर मृत हो जाता है। हमारे स्वरों की भाँति ही चारों ओर के वायुमडल मे अदृश्य चेतन भाव तैरते रहते है। कवि उन्ही को ग्रहण कर हमारे लौकिक जीवन को अमृत देता है। वैज्ञानिक जब ग्रामोफ़ोन के रेकर्ड पर अदृश्य स्वरो को उतार देता है तब हम उसे सत्य मान लेते है, किन्तु कवि जिन अदृश्य चेतनाओ को काव्य मे रूप-रग और स्वर देता है, उसे सत्य माननें मे सहृदयता की कृपणता क्यों? वैज्ञानिक तो लोक की बात को ही लोक मे उतारता है, उसका ग्रामोफोन केवल ग्रामोफोन है। किन्तु कवि की हृदयतन्त्री उन लोकातीत स्वरो को भी गीतिमान कर देती है, जो वैज्ञानिक की क्षमता के सर्वथा परे है। दूरदर्शी कबीर ने उन्ही स्वरो को 'अनहद नाद' (अनाहत नाद)

या अवाद्य-संगीत अर्थात् विना वजाया हुआ गान कहा था। इसे हम आकाश-गान भी कह सकते हैं।

कवि के ध्येय को हम चाहे जीवन का चरम सत्य कह ले, चाहे आराध्य की झाँकी, चाहे हृदय का द्रवण, चाहे काव्य का रस; प्रत्येक स्थिति मे वह हमी-जैसा अस्तित्वमय है। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दो मे—"हमारी इन सब बातो के कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे भावों की सृष्टि कोई खामखयाली चेष्टा नही है। यह वस्तु-सृष्टि के समान ही अमोघ नियमो के अधीन है। प्रकाश के जिस आवेग को हम बाह्य जगत् के समस्त अणु-परमाणुओ मे देखते हैं, वही एक आवेग हमारी मनोवृत्तियों के अन्दर प्रबल वेग से कार्य्य कर रहा है। इसलिए जिन आँखो मे हम पर्वत-जंगल, नद-नदी, मरुभूमि और समुद्र को देखते है, साहित्य को भी उन्ही आँखो से देखना पडेगा—यह भी हमारा-तुम्हारा नही है—यह भी निखिल सृष्टि का एक भाग है।"

काव्य मे जब ध्येय गौण रहता है, माध्यम प्रधान; तब कविता मे वस्तु-जगत् के उपकरणो का प्राधान्य हो जाता है, काव्य अखबारी दुनिया के समीप आ जाता है—उसमे कवित्व-शून्य इतिवृत्त अधिक रहता है। द्विवेदी-युग की प्रारम्भिक कविता मे इतिवृत्त के लिए लौकिक उपकरणो का इतना अभाव हो गया था कि कुनैन, मच्छड और खटमल भी अभाव की पूर्ति करने को

प्रस्तुत थे। सच तो यह है कि खड़ीबोली की कविता अपने शिशु-पाठ से ही छायावाद की कविता की ओर अग्रसर हो सकी है, उसमे शनैः शनै ही सरसता, गम्भीरता और मार्मिकता आती गई है। खड़ीबोली के उस आरम्भिक काल मे लौकिक उपकरणो के माध्यम की विपुलता से हिन्दी-काव्य को अपनी सुदृढ़ता के लिए ज़मीन मिली, उसी जमीन पर हिंदी कविता खिली है। यदि वह पृष्ठभाग न मिलता तो आज की कला कली ही रह जाती। द्विवेदी-युग की कविता ने जिस प्रकार वाह्य विषय लिये, उसी प्रकार उसने कला के वाह्य अगो, शब्द, छद, अभिव्यक्ति इत्यादि को सुडौल बनाने मे भी अपने अनुरूप सत् प्रयत्न किया। खड़ीबोली की कविता मे प्रारम्भिक कार्य तो शरीर-निर्माण का हुआ, जब इस ओर से कुछ निश्चिन्तता प्राप्त हुई तो उस युग के विशिष्ट कवियो ने इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की ओर भी सजग दृष्टिपात किया। उनके मनोहर प्रयासो से खड़ीबोली जी गई, आज के नव-नव कवि उसी जीवित खड़ीबोली मे अपनी नई-नई साँस फूँक रहे हैं।

छायावाद की कविता-द्वारा हम उनकी इन साँसो से परिचित हुए हैं। किन्तु इसके आगे एक और ससार है, जो है तो राजनीतिक किन्तु वह हमारे साहित्य मे उसी प्रकार प्रभाव डालेगा, जिस प्रकार राष्ट्रीय चेतना ने हमारी कविता पर अपना प्रभाव छोड़कर उसे राष्ट्रीय भी बना दिया था। वह ससार भावी के गर्भ मे है।

भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-कविता

(१)

सन् ५७ के गदर के बाद, १९०५ में बंग-भंग को उपलक्ष्य बनाकर जिस प्रकार आधुनिक राजनीतिक क्रान्ति का केन्द्र बंगाल बना, उसी प्रकार आधुनिक साहित्यिक क्रान्ति की केन्द्रभूमि भी बंगभूमि ही बनी। किन्तु अन्तत राजनीतिक क्षेत्र में बंगाल का उग्र क्रान्ति-पथ ही स्वदेश और साहित्य का प्रतिनिधि नही बना। क्रान्ति का जोश तो किसी गंभीर प्रतिनिधित्व की भूख-मात्र है। फलत, राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ने स्वदेश का प्रतिनिधित्व किया, कला-क्षेत्र में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य का। यद्यपि उग्र क्रान्तिकारीदल और उग्र क्रान्तिकारी साहित्य इन महानुभावो के जीवन-काल में भी अवशिष्ट रहे, किन्तु वे विशाल भारत के प्रतिनिधि न हो सके। गांधी और रवीन्द्र ने ही स्वदेश और साहित्य को विश्व-जीवन और विश्व-साहित्य के पूर्वीय और पश्चिमीय क्षितिज तक उठा दिया। खड़ीबोली ने इन्हे ही अपनाकर नवयुग का नवजीवन ग्रहण किया।

आज बीसवी शताब्दी बदलकर २१वीं शताब्दी होने जा रही है। १९वीं शताब्दी जिस प्रकार २०वीं शताब्दी की पूर्व भूमि थी, उसी प्रकार २०वीं शताब्दी अभी से २१वीं शताब्दी के लिए पृष्ठभूमि बन गई है। २१वी शताब्दी अपने प्रारम्भ से ही तेजोद्दीप्त तारुण्य लेकर आयेगी, न कि अविकल

बचपन। उस शताब्दी का क्या स्वरूप होगा, समय इसी का उत्तर देने के लिए व्यग्र गति से दौड़ रहा है।

निःसन्देह आज के विश्व की हलचलों का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है, फलतः हम एक नये दृष्टिकोण से सोचने-बोलने लगे हैं। युग-युगान्त मे हमारे काव्य-साहित्य में छाया-वाद और रहस्यवाद चला आ रहा था, वर्त्तमान राजनीतिक युग मे स्वदेश और साहित्य मे समाजवाद भी चर्चित हो रहा है। हमारे साहित्य की रहस्यवादी प्रगति पुरातन होते हुए भी उसी प्रकार आधुनिक है, जिस प्रकार अनन्त प्रकृति अनादि होते हुए भी दैनिक रश्मियो में आधुनिकतम होकर प्रकट होती आई है। समाजवाद विदेश से आया है, उसे हम कहाँ तक स्वीकार करेंगे, यह भविष्य की बात है, किन्तु समाजवाद जिस मानव-सौजन्य का राजनीतिक (बाह्य) स्वरूप समझा जाता है, रहस्यवाद उसी का धार्म्मिक (आन्तरिक) रूप कहा जा सकता है। धार्म्मिकता सिर्फ किसी मजहबी सज्ञा में ही सीमित नही, वह तो हृदय की एक सद्वृत्ति है जो हमे सामाजिक सवेदना के लिए सहृदय बनाती है। मजहब तो धार्म्मिक सस्कृति के मृत्पात्र (आयतन) मात्र है। यदि उसमे सास्कृतिक सुधा न हो तो समझ लेना चाहिए कि वह ढाँचा-भर रह गया, उसमे का मनुष्य मर गया। जब हम किसी पीडित के दुःख से द्रवी-भूत होकर सवेदित होते है तब उतने क्षण के लिए मजहबी न

होते हुए भी धार्मिक अथवा सहृदय हो जाते हैं। सहानुभूति का वह क्षण क्षणिक न रह जाय, इसी लिए रहस्यवाद उसे स्थायित्व देता है। रहस्यवाद आन्तरिकता को विश्वरूप में, विश्व-संवेदना में, विश्वव्याप्त चेतना में जगाता है। यदि समाजवाद के अन्त-राल में रहस्यवाद (आध्यात्मिक चेतना) भी अन्तर्हित हो तो रहस्यवाद का उससे वैपरीत्य नहीं।

हाँ, तो विश्व की हलचलों के कारण हमारी कविता भी नई भूमि पर जा रही है, इस भूमि को हम पीडित मनुष्यता की भूमि कह सकते हैं। हमारा रहस्यवाद कभी उल्लसित मनुष्यता की सच्चिदानन्द-भूमि में था, अब वह करुणाकर की करुणा-भूमि में जा रहा है।

आनन्द ही हमारी संस्कृति का ध्रुवध्येय रहा है, करुणा की भूमि से हम उसी सच्चिदानन्द-भूमि में जाकर इष्टलाभ करते रहे हैं। संसार के अन्य सभी रसों की समाप्ति के बाद शान्त रस में ही हम उस आराध्य की झाँकी उतारते रहे हैं। किन्तु आज का युग अशान्त है। अशान्त युग की कविता दो रसों में बहती है, एक करुणा, दूसरे वीर। सम्प्रति हमारे देश की राष्ट्रीयता को रक्तपात अभीष्ट नहीं, अतएव हम वीररस को शस्त्रों की तीक्ष्ण शिखाओं में ज्वलन्त नहीं देखते। हम तो करुणा को युद्धवीर होकर ,नहीं, कर्म्मवीर होकर अग्रसर करना चाहते हैं। हम सैनिकों की यौद्धिक प्रवृत्ति

न लेकर एक स्वयंसेवक जैसी रक्षा और सेवा का भाव लेकर चलना चाहते हैं। जैसी क्रिया होगी वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। रक्तपात की प्रतिक्रिया रक्तपात है, इतिहास से इसकी निस्सारता देखकर भी हम उसे कैसे अपना सकते हैं। फलतः पीड़ित मनुष्यता की भूमि पर हमारी कविता मानवी सवेदना को ही जगा रही है, जीवित,-मृतकों को जीवन का अमृत मन्त्र दे रही है।

हिन्दी-कविता में आज जो सामूहिकता के लिए परिवर्तन हो रहा है, इसका कारण विश्व-व्याप्त ट्रैजडी है। यह ट्रैजडी का युग है। मध्ययुग में भी ट्रैजडी थी, किन्तु उस युग की ट्रैजडी नैतिक (सांस्कृतिक) पराधीनता में उत्पन्न हुई थी, जब कि वर्तमान ट्रैजडी राजनैतिक (आर्थिक) पराधीनता में उत्पन्न है। मध्ययुग का साम्राज्यवाद मानसिक स्वतन्त्रता के अवरोध के लिए जनता के कण्ठ पर १४४ दफा लगाये हुए था, फलतः जनता न तो सामाजिक उन्नति कर सकती थी, न मानसिक, न राजनीतिक। केवल कुछ आर्थिक विकास सम्भव था। उस समय वैभव केवल सम्राट् के राज्यकोष में ही सीमित नहीं था, वह देश के अन्य वर्गों में भी पहुँचता था। साधारण जनता यद्यपि ऐश्वर्यवान् न थी, किन्तु खाने-पीने में खुशहाल थी।

मध्ययुग में जो नैतिक दुर्भिक्ष था, जो सामाजिक पराधीनता थी, उसी के भीतर में उस युग के कवियों को अपने जीवन के लिए कोई न कोई साँस लेनी ही पड़ी और उन्हें उस अवरुद्ध

ट्रेजडी मे ही एक कॅमिडी पैदा करनी पडी, वही कमिडी शृंगारिक कविताओ मे प्रकट हुई क्योंकि जीवन शारीरिक ही हो गया था। शायद ही कोई सांसारिक इस कमिडी को नापसन्द करता। किन्तु उस युग की ट्रेजडो मर नहो गई, वह भक्ति-रस में सराबोर होकर सूर, तुलसी तथा अन्य भक्तों की वाणी में प्रकट हुई। इस प्रकार हिन्दी-कविता शृंगार के अतिरिक्त धर्म्म और मोक्ष की ओर भी बढी। अर्थ को नहीं, धर्म्म को प्रधान बनाकर उस युग के अभाव-अभियोगो का पौराणिक सकेत ग्रहण किया गया था। किन्तु यह सब कुछ यथाकाल की आर्थिक निश्चिन्तता की भूमिका पर निर्भर था। वर्तमान युग में वह आर्थिक निश्चिन्तता छिन्न-भिन्न हो गई। फलत आज की ट्रेजडी आर्थिक चिन्ता से जर्ज्जरित जीवन के अनेक उत्पीडनो के रूप मे प्रकट हुई—कही श्रमजीवियो की कातर पुकार मे, कही अशन-वसन-विहीन गृहस्थों के आर्त्तनाद मे।

मध्ययुग की अवरुद्ध सास्कृतिक ट्रेजडी और वर्तमान युग की अनवरुद्ध आर्थिक ट्रेजडी का बीसवी शताब्दी मे जमघट हो गया। दूसरे शब्दो मे, मध्ययुग की विलासिता और आधुनिक युग की निर्धनता (जो मध्ययुगीय आर्थिक व्यवस्था और वर्तमानकालीन यान्त्रिक दुरवस्था का परिणाम है) का हमारा देश म्युजियम बन गया। अतएव एक अभूतपूर्व कमिडी की सृष्टि के लिए आज एक सुव्यवस्थित सार्वजनिक

जीवन को जन्म देने का सत्प्रयत्न हो रहा है—सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के रूप में।

मध्ययुग में जो शृंगार-काव्य और भक्ति-काव्य की धारा थी, वह युगल धारा आज भी बह रही है। शृंगार-काव्य आज के कलानुरूप आज की प्रेम-कविताओं में है। भक्ति-काव्य हमारे वर्तमान साहित्य में विरल, किन्तु बापू के उन कल्याणपूर्ण रचनात्मक कार्यों में घनीभूत है, जिनमें उन्होंने अपने व्यावहारिक वेदान्त को मूर्त्त किया है। एक (शृंगार) भाव की दिशा में है, दूसरा (भक्ति) अभाव की दिशा में। आज का अभाव नैतिक और राजनैतिक (आर्थिक) दोनों ही है।

सार्वजनिक क्षेत्र में आकर हिन्दी-कविता प्रभाती बनी है। हरिश्चन्द्र-युग से हम यह प्रभाती सुन रहे हैं। आज हिन्दी-कविता उस मंजिल पर है, जहाँ भावी जीवन के निश्चित पथ का चुनाव हो रहा है।

———

नवीन मानव-साहित्य

(१)

कल्पना,—काव्य की ही वस्तु नहीं, अपितु वह हमारे इस भौतिक जीवन की भी सञ्जीवनी है। शैशव के स्वप्नों को भूल-कर प्रौढतम प्राणी हो जाने पर भी हम कल्पना के साथ 'कुट्टी' नहीं कर लेते। घोर-से-घोर वस्तुवादी वैज्ञानिक भी, दिन-भर के अविश्रान्त परिश्रम के बाद, जीवन के किसी एकान्त मे बैठकर, जब किसी क्षण अपने अबोध शैशव को स्मरण करता होगा, हृदय के भोलेपन को जगाता होगा, तब उसकी ऑखो से उस अतीत स्वर्ग के अभाव मे ममता की दो बूँदे ढुलक ही पड़ती होंगी। सच पूछिए तो अतीत को स्मरण करना एक ऐसी भावुकता है, जो प्रत्येक प्राणी को मूककवि बना देती है। जब तक हम बचपन को स्मरण करते रहेंगे, तब तक हम कल्पना को भी प्यार करेंगे, यही तो हमारे शुष्क जीवन को नरम-स्निग्ध बनाये रखती है, यही तो कभी निद्रा बनकर, कभी स्वप्न बनकर हमारे आक्लान्त हृदय को कोमल विश्राम दे जाती है।

काव्य मे यही कल्पना राजमहिषी की भाँति अधिष्ठित रहती है, यथा सरोवर के हृदय मे इन्द्रधनुषी आभा। जहाँ का जीवन सरल प्रकृति के क्रीड़ा-क्रोड मे खेलता रहता है, वहाँ काव्य की इसी

इन्द्रधनुषी शोभा से मानव-हृदय अनुरञ्जित रहता है। परन्तु आज का मनुष्य किसी सरोवर के तट पर बसा हुआ केवल हरित उद्यान का गीतिखग नहीं, बल्कि वह अट्टालिकाओं के कठोर प्राचीरों से घिरा हुआ विवश प्राणी भी है। आज तो प्रकृति की प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य नामक जन्तु ने अपना एक अलग संसार बना रखा है। काशी के धरहरे पर से देखा हुआ दृश्य इसी पार्थक्य का सूचक है—

देखो वह वन की हरियाली आ रही इधर अञ्चल पसार;
रुक गई किन्तु यह रेत देख, रह गई राह में उसी पार।
सामने महल हैं बड़े-बड़े जिनके भीतर और ही लोक;
हैं जहाँ बन्द जग के सुख-दुख, करुणा, उमङ्ग, आनन्द शोक॥

—नेपाली

प्रकृति को भी अपने राज्य की प्रजा बनाये रखने के लिए मनुष्य ने अपने नगर-रूपी विराट् कारागार के बीच-बीच में पार्क, सरोवर, हैंगिंग गार्डन बना रखे हैं। परन्तु यह तो प्रकृति से विद्रोह करने में उसकी हार है। उसके बिना वह खुली साँस ले ही नहीं सकता, फिर भी वह हठीला मानता नहीं। उसे मनाना होगा, कवि ही उसे मना सकता है। परन्तु कैसे? इस सयाने शिशु (लोक-पट, मानव-समुदाय) को केवल इन्द्रधनुषी आभा (कल्पना) से नहीं बहलाया जा सकता, वह तो प्रकृति के सरलहृदय प्राणियों को ही सुपमित कर

सकती है। लौकिक मानव-समुदाय तो अपनी विषमताओं से उत्पन्न सन्तापों से उत्तप्त है, इसे केवल शोभा-सुषमा एवं आभा नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष शीतलता भी चाहिए। अतएव काव्य की कल्पना जब संसार की कठोर छत पर चाँदनी की तरह बरस-बरसकर सन्तप्त हृदयों को जुड़ाने लगती है तभी वह लोक-जीवन की भी सञ्जीवनी बन जाती है।

(२)

प्रकृति-सुषमा के सुकुमार कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-कल्पना, विश्व-वेदना मे तप रही है। वहाँ चाँदनी—

जग के दुख-दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही वह
आँसू की नीरव माला!

—'गुंजन'

'पल्लव' और 'गुञ्जन' उनके भावाकाश के दो प्रतिनिधि हैं—दोनों ही मे कवि ने इस संसार से ऊपर उठकर जीवन के गीत गाये हैं, किन्तु दोनो मे वृहत् अन्तर है—'पल्लव' मे इन्द्र-धनुष की रङ्गीन आभा है, 'गुञ्जन' में चाँदनी की उज्ज्वलता भी। एक मे भावप्रवण हृदय का नयन-चित्र है, दूसरे मे विश्व-प्राणी का यत्किञ्चित् व्यथित सङ्गीत भी। 'पल्लव' के चित्र आँखो मे सौन्दर्य-सृष्टि करते है, 'गुञ्जन' के जीवन-

गीत समाज को सजग करने का प्रयत्न करते हैं। पन्त के यौवन ने 'पल्लव' में प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य को प्रधानता दी है, 'गुञ्जन' में यत्र-तत्र कवि की प्रौढता ने यौवन के चञ्चल पदों के विदा होने पर, लोक-जीवन की गूढ समस्या को समझना चाहा है। कवि पहले केवल भावशील था, संसार की स्थूल मिट्टी में उसके पैर जमे नहीं थे; अब वह वटवृक्ष की भाँति भूतल पर स्थिर होकर इस वस्तुजगत् को देखना चाहता है। 'पल्लव' के विल्लौर-प्रतिबिम्ब में कवि के संसार को देखनेवाले दर्शक, 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' की कला में जीवन-चिन्तन को देखकर उतना मोहित न होंगे। इसका कारण 'ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट है—"मनुष्य-जाति को सदैव से सौन्दर्य-विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्रजाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है।" परन्तु मनुष्य को वस्तुजगत् पर भी दृष्टिपात करना ही पड़ता है। कवि जानता है—"काव्य, सङ्गीत, चित्र, शिल्प-द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करना है।"—इसी आत्मबोध ने 'पल्लव' के कवि को लोक-जीवन की ओर प्रेरित किया है। लोक-जीवन में आकर भी कवि वस्तुजगत् की फोटोग्राफी नहीं करता, बल्कि वह एक स्वतन्त्रचेता कलाकार की तूलिका से ही उसे उद्भासित करता है। लोक-जीवन के भीतर 'ज्योत्स्ना' की भाँति ही वह अपनी आत्मा का प्रकाश विकीर्ण कर उसे

अपनाता है। इसी लिए उसकी इवर की कविताओ मे जहाँ कहीं कोमलता-मधुरता है उसमे उसकी कविता की चाँदनी है और जहाँ कहीं खुरदुराहट है, वहाँ है वस्तुजगत् की गद्य-वास्तविकता।

'ज्योत्स्ना' पन्त जी के जीवन-सम्बन्धी विचारो की कुञ्जी है, आधुनिक जगत् के विविध विचारो की पैमाइश है। उसमे पन्त का आत्मचिन्तन और लोक-निरीक्षण निहित है। उसके गद्य के गुरुगहन वाद्य मे गीतो की भनकार और चित्रो का जमघट है। विचार-प्रधान कृति होने के कारण 'ज्योत्स्ना' उतनी सुगम नहीं हो सकी है, जितनी पन्त की कविताएँ, तथापि उसके रूपकमय रहस्य को समझने पर वह सम्पूर्णत मनोरम लगने लगती है। ज्योत्स्ना' मे कवि ने अपने वर्तमान लौकिक और साहित्यिक दृष्टिकोण को यो अभिव्यक्त किया है—

"हम जीवन को सार-रूप मे ग्रहण कर सकते है, ससार-रूप मे नही। जीवन के इस सार से, सत्य के इस सारल्य से, मनुष्य को मिलाकर, कला उसे सबसे मिला देती है। यही सत्य का एकत्व, काव्य का लोकोत्तरानन्द रस है।"

"विगत युग मे कला को कला के लिए महत्त्व देते आये है। अब हम जानते है कि कला सत्य नही, जीवन ही सत्य है। कला मे जो कुछ सत्य है, वह उसके जीवन की परछाई होने के कारण, कलाकार या कवि जीवन को विश्व के आविर्भाव-

रूप मे ही सीमित नही रखता, वह उसके दर्शन समस्त विश्व में व्याप्त जीवन के सत्य स्वरूप मे करता है। सत्य ज्वाला है, उसके स्पर्श से समस्त भेदभावो के विरोध भस्म हो जाते है। कला अपना अस्तित्व जीवन मे लय कर जब तक उससे तदाकार नही हो जाती, उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नही पकड सकते। सर्वोच्च कलाकार वह है, जो कला के कृत्रिम पट मे जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियो का निर्माण करने के बदले अस्थि-मास की इन सजीव प्रतिमाओ मे अपने हृदय से सत्य की साँसे भरता है, उन्हे सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है, उनके हृदय-प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है।" इस प्रकार हम देखते है कि पन्त की कला और जीवन को देखने का दृष्टि-कोण बदल गया है और वे आधुनिक युग की समाजवादी विचार-धारा मे सन्तरण कर रहे है।

(३)

मनुष्य अपने सरल मौलिक जीवन को भूलकर इतना आत्म-विस्मृत हो गया है कि वह मनुष्य है भी या नही; अथवा वह जो कुछ है, क्या है, किस लिए है, इन सब बातो की ओर उसका ध्यान नही। गर्द-गुबार से भरे हुए यन्त्र की भाँति वह ससार की सडक पर आता-जाता रहता है और इसी को जीवन समझता है। ऐसे जीवन का सत्य, ऐसे जीवन का साहित्य कला के हाथो सज-धजकर हमारे सामने आता रहा है। पर मनुष्य के

खोये हुए विवेक को जगाना, उसके आत्म-रूप—(मनुष्य-रूप)—का ध्यान दिलाना आज पन्त-जैसे कवियो को अभीष्ट है। जो कला मनुष्य को मनुष्य के लिए सुलभ न कर उसे मानसिक अकर्मण्यता एव आत्मप्रवञ्चना के भुलावे में रखती है, उसमे नवचेतन कवि को जीवन का सत्य नही दिखाई पडता, वह कला तो साहित्यिक जगत् में लालसाओ की एक वैसी ही क्रीड़ा है, जैसी कि सामाजिक जगत् मे सम्पन्न व्यक्तियो की मनोविनोदिता। और कदाचित् पन्त जी भी इसे मध्यकाल की रईसी रुचि मानते हों। अब तक के जीवन और साहित्य के प्रति कवि के हृदय मे विरक्ति जग पडी है—

हाय, मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन ?
* * *
शव को दें हम रूप-रङ्ग आदर मानव का,
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
—'युगान्त'

प्रेम के नाम पर हम एक युग से एक ताजमहल को कला का सम्मान देते आये हैं; किन्तु कला की जीवित विभूति—मनुष्य—को इस आत्मविनोदी जगत् में कोई स्नेह नहीं। अपनी तूलिका से हम कितने ही मृत व्यक्तियो को रूप-रङ्गो से आकार-प्रकार देकर कला की प्रदर्शनियो मे उपस्थित करते हैं, कलाविद् उन्हे पुरस्कृत करते है, किन्तु एक क्षुधातुर मनुष्य जो

जीवित-मृत है, जिसका कमनीय मुख रोग-शोक से विवर्ण हो गया है, उसे हम भूलकर भी नहीं देखना चाहते। तूलिका से अङ्कित उसके कागजी चित्र को हम कला की अमूल्य सम्पत्ति समझ लेते हैं; किन्तु विधि की इस सजीव कला की दुनिया की हाट में क्या कीमत है! हम वास्तविकता की अपेक्षा मिथ्या को अधिक चाहते हैं, वास्तविकता (सत्य) के साथ एक तार होने के लिए तो हमें आत्मसाधना की कठिन आव-श्यकता पड़ती है, मिथ्या के साथ तद्रूप होने के लिए चिरअभ्यस्त आत्मप्रवञ्चना से काम चल जाता है। जीवन के प्रति, साहित्य के प्रति, कला के प्रति मनुष्य का यह कितना विघातक ढोंग है। इसी लिए कवि ने आगे कहा है—

मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !

यह मध्यकालीन अर्थशास्त्र से अनुप्राणित समाज का कला-प्रेम है और यह कला-प्रेम सामाजिक अव्यवस्था की ओर से सर्व-साधारण को उसी प्रकार विमुख रखता है जिस प्रकार महन्तों का धर्म-प्रेम।

यही ढोंग, यही प्रवञ्चना, यही विडम्बना, यही कृत्रिमता देखकर ही तो कवि की आत्मा पुकार उठी है—

जिससे जीवन में मिले शक्ति
छूटे भय, संशय, अन्ध-भक्ति,

मैं वह प्रकाश बन सकूँ नाथ!
मिल जावें जिसमें अखिल व्यक्ति।

*　　　*　　　*

पाकर प्रभु! तुमसे अमर दान
करने मानव का परित्राण
ला सकूँ विश्व में एक बार
फिर से नवजीवन का विहान।

—'युगान्त'

वह ललित कल्पनाओं का कोमल कवि पन्त आज यह कैसा नूतन राग गा रहा है? यह तो सङ्गीत का सुरीला स्वर नहीं; निर्पीडित चेतन का करुण-रव है। आज जीवन के प्रसाद (कला) के रूप मे जो नशा दे दिया गया है हम उसे हटाकर कला का जीवनदायक रूप ग्रहण करना चाहते हैं। इसी लिए पन्त ने भी कविता के रेशमी साज-बाज को हटाकर उसे खादी का परिधान पहना दिया है। जीवन का मध्ययुगीय रेशमी साज-बाज तो आधुनिक युग में ट्रेजडी का रगीन शृंगार हो जायगा, करुणा को होली के रग से रँगना हो जायगा।

जीवन के साज के साथ ही कविता के तार का भी बदल जाना स्वाभाविक ही है। कवि जब आत्मप्रयोग करता है, तभी उसमें उसके काव्य मे, जीवन की नवचेतन अनुभूति होने लगती है। 'कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वय कवि है,'—ठीक उसी प्रकार,

जिस प्रकार गुलाब का सबसे बडा सौन्दर्य स्वय गुलाब है, क्योंकि उसके कृतित्व का सौरभ उसी मे अन्तर्हित रहता है।

(४)

'ज्योत्स्ना' मे कवि ने एक स्वप्न देखना चाहा है—"संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय, और यह 'सृष्टि' प्रेम की पलको मे अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाय।"—इसी भावना को इस रूपक मे कवि ने मूर्त रूप दिया है, इसी भावना को कवि ने 'गुञ्जन' मे गीतिमय किया है। इसी भावना को प्रत्यक्ष स्वप्न बनाने के लिए उसने 'युगान्त' मे मानव को उद्बोधन दिया है।

सृष्टि का यह सुन्दर स्वप्न क्योंकर प्रत्यक्ष हो सकता है?—जिन कारणो से वह अप्रत्यक्ष है, उन्हे दूर हटाकर। 'ज्योत्स्ना' के एक पात्र के शब्दो मे—"समस्त विश्व सत्य और सदाचार के नियमो से शासित है, मनुष्य अपवाद होकर नही रह सकता। विगत युग (वर्तमान युग) मे शासक और शासितो मे सामञ्जस्य नही रहा; क्योंकि वह सत्य और सदाचार का नही, शक्ति और स्वत्वाधिकार के शासन का युग था। राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र आदि सभी प्रकार के शासन, सत्य एव सदाचार के अभाव से, केन्द्रभ्रष्ट एव लक्ष्यहीन हो गये थे।....

जिस प्रकार समुद्र की मुखर लहरे असख्य स्वरूप एव स्वरो की स्वतन्त्रता पा लेने पर भी समुद्र के अन्तस्तल को अनन्त शान्ति की वाणी नही दे सकती, (उसी प्रकार अपने ही को समझने मे अक्षम, अशिक्षा-पीड़ित, भिन्न-भिन्न स्वार्थो के झोको मे उठते-गिरते, मिलते-बिछुड़ते लोक-समूह भी शान्ति के स्थापन एव एकान्त-श्रेय के सरक्षण मे असफल प्रमाणित हुए। बाजे के समस्त परदो को एक साथ ही दबा देने से, या कुछ चुने-चुने परदो पर बेसिलसिले हाथ फेर देने से ही राग का जन्म नही होता, राग के अनुरूप परदो को बजाने से ही राग का स्वरूप प्रकट हो सकता है। इसी प्रकार चाहे राजतन्त्र हो अथवा प्रजातन्त्र, मानव-सत्य के नियमो से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य जाति की सुख-समृद्धि के पोषक बन सकते है। सच तो यह है, मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमो का आविष्कार नही करना है, उसे केवल सत्य की जिस शासन-प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर उसे पहचान भर लेना है। गत युग—('ज्योत्स्ना' की दृष्टि से वर्तमान युग; क्योकि कल्पना-द्वारा एक मनोरम भावी युग में पहुँच-कर लेखक ने वर्तमान युग की विषमताओ का अवलोकन किया है)—गत युग अपने को बाह्य सामञ्जस्य देने की चेष्टा करता रहा, जब कि उसे एकमात्र आन्तरिक सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी।" और "मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रो

एवं विभागों को सङ्कुठित एवं सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।" 'ज्योत्स्ना' के इन विचारों में हम देखते हैं कि पन्त भाव-जगत् से वस्तुजगत् में आ जाने पर भी एक नैतिक आदर्शवादी हैं। सिर्फ उन्होंने प्रभुता, (कृत्रिमता) को मनुष्यता की भूमि पर परखा है, चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक।

इन उद्धरणों में लेखक ने वर्तमान विश्व की अशान्ति में जिस शान्ति-साधन का सङ्केत किया है, वह भारतीय अध्यात्म में सम्भव है। आन्तरिक रोग के लिए आन्तरिक निदान चाहिए, किन्तु पश्चिम की नकल पर हम बाह्य चिकित्सा में लगे हुए हैं, जो ऊपर से रोग को दबाने का प्रयत्न करती है, किन्तु रोग भीतर से उभड़ पड़ता है। भारतीय अध्यात्म व्यक्ति के अभ्यन्तर को स्वस्थ करता है।

अन्य देशों का शासन लोगों को एकमात्र नागरिकता का बोध कराता है किन्तु मनुष्य मनुष्य के नाते जितना अपने कर्त्तव्य को 'फील' करता है, उतना नागरिक के नाते नहीं, क्योंकि मनुष्यता में आत्म-प्रेरणा रहती है, नागरिकता में बेबसी। किसी बेबसी या लाचारी से नहीं, किसी भय या आशङ्का से नहीं; बल्कि अन्तरात्मा की पुकार से स्वेच्छापूर्वक जब मनुष्य कर्तव्यारूढ़ होगा, तभी विश्व में आन्तरिक शान्ति होगी। राजनीति-

द्वारा नहीं, बल्कि नीति-द्वारा शान्ति सम्भव है। नवीन संस्कृति किस प्रकार की अपेक्षित है, 'ज्योत्स्ना' के वेदव्रत के शब्दों में—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपञ्जर में भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रङ्ग भर हमने नवीन युग की सापेक्षत परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और इसी लिए "इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है, पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।"

(५)

पन्त ने 'गुञ्जन' में वेदना को दो रूपों में ग्रहण किया है—एक वह, जो विश्व-जीवन में अशान्ति का कारण बन जाती है; दूसरी वह जो मनुष्य के मानसिक विकास में सहायक होती है। एक में वेदना का भौतिक रूप है, दूसरे में आत्मिक। महादेवी ने अपने काव्य में आत्मिक वेदना को ही प्रधान बनाया है। आत्मिक वेदना मनुष्य को साधनाशील बनाती है, पन्त के शब्दों में—

> दुख इस मानव आत्मा का
> रे नित का मधुमय भोजन,
> दुख के तम को खा-खाकर
> भरती प्रकाश से वह मन।

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरन्तन!
सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

इसी जीवन के अनुराग के लिए कवि ने कहा है—

जीवन की लहर-लहर से
हँस-खेल खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक!

जीवन के क्षणिक सुख-दुख सरिता के युगल पुलिनो की भाँति जीवन मे भिन्न है, जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन-सागर।

जीवन के इस उन्मुक्त स्वरूप को हृदयङ्गम कर लेने पर विश्व की जटिलता मे भी मनुष्य अपने लिए एक स्थान बना लेता है; यथा—

काँटो से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणो का धन।

सुख की अपेक्षा दुख मे पन्त को भी अधिक गम्भीरता दीख पडती है। सुख मे तो उन्हे एक प्रकार की चञ्चलता-वाचालता जान पड़ती है—

गूँजता भूला भौरा डोल
सुमुखि! उर के सुख से वाचाल।

ससार मे इतनी व्यथा है कि कवि लिप्त होकर सुख को अपना नही सकता—

अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन कम्पन।

ससार के दारुण दुख और उच्छ्वास से विरक्त होकर 'गुञ्जन' का कवि, जीवन को ससार से पृथक् नही कर लेना चाहता। वैराग्य मे नही, कर्म मे उसका विश्वास है; मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनो मे उसकी आस्था है। कहता है—

जीवन के नियम सरल हैं
पर है चिरगूढ सरलपन;
हैं सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन।

जीवन जिन सुन्दर नियमो से परिचालित है, वे देखने में तो सरल है, किन्तु युगो के गूढ़ आत्म-चिन्तन से सुलभ हुए है, इसी लिए उनका 'सरलपन' 'चिरगूढ' है। उन सरल नियमो के सम्बन्ध मे यदि हम सशय न कर, विश्वास से काम ले, तो लोक-जीवन सहज ही सुखी हो सकता है, कवि की ही वाणी—

सुन्दर विश्वासो से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यो सहज-सहज साँसो से
चलता उर का मृदु स्पन्दन।

जीवन जिन सहज, किन्तु गूढ नियमो से आवद्ध होकर अपने को लोक-सार्थक करता है, उन्हे तोडकर उन्मुक्त हो जाना सहज है, किन्तु जीवन के बन्धनो मे ही मुक्ति को आवद्ध पाना, एक श्रेष्ठ आत्मसाधना है।

बन्धनो से ही मुक्ति की उपलब्धि उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार सगुण-द्वारा निर्गुण की अनुभूति अथवा शरीर-द्वारा आत्मा की प्राप्ति। इसी लिए कवि दुहराता है—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्धयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप मन !

कवि जीवन को निस्तरङ्ग-रूप में नहीं बल्कि एक तरङ्गाकुल सरिता के रूप में ग्रहण करना चाहता है। निस्तरङ्ग सरिता जिस अनन्त सिन्धु (सच्चिदानन्द) में जा मिलेगी, तरङ्गाकुल सरिता भी उसी में मिलकर पूत होगी। जीवन को यदि निस्तरङ्ग ही रहना है, तो फिर उस अनन्त सिन्धु से पृथक् इसे एक विश्व-गति क्यों मिली ? यदि अपने हृदय का हास-हुलास, क्रीडा-कलरव लेकर यह इस अनन्त से मिले तो सच्चिदानन्द को अधिक प्रसन्नता होगी। कवि ने कहा है—

क्या यह जीवन ? सागर में—
जल-भार मुखर भर देना !
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा-
व्रीडा से तनिक न लेना ?

सागर-सङ्गम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;
मेरे क्षण-क्षण के लघु कण
जीवन-लय से हो मधुमय।

पन्त एक आस्तिक और आदर्शवादी कलाकार हैं—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का।
जगजीवन में उल्लास मुझे,
ईश्वर पर चिरविश्वास मुझे।

परन्तु आदर्श को वे रूढियो के बन्धन मे नही, बल्कि व्यक्तियो के स्वतन्त्र विकास मे प्रतिफलित देखना चाहते है। "आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते है।" इमी लिए 'ज्योत्स्ना' मे हेनरी कहता है—"प्रवृत्ति, निवृत्ति मार्ग (Positive. negative attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनो ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक है, पहला भोक्ता के लिए, दूसरा द्रष्टा के लिए जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।"

(६)

आज मानव-इतिहास कितना बदल चुका है—न जाने उपवन मे कितने वसन्त और पतझड आये-गये है, न जाने वसुधा कितने हास-अश्रुओ में हँमी-रोई है।

समय की इस परिवर्तनशील लीला का प्रभाव जब व्यष्टि रूप मे हृदय पर पडता है तब साहित्य-कला की सृष्टि होती है, जब समष्टि रूप से समाज पर पड़ता है तब इतिहास की रचना होती है। पन्त ने दोनो ही प्रभावो को ग्रहण किया है, इमी लिए उनकी काव्य-कला भी बदली है और मनो-धारा भी। युग

की सम्पूर्ण प्रगति अभी प्राप्य नहीं, क्योकि संसार में युग ने अभी अपना प्रथम चरण (स्वप्न) ही रक्खा है, अतएव पन्त भी अभी अविकसित हैं।

हाँ तो, पन्त इस बार मानवीय इतिहास के भीतर से अपनी रचना लेकर आये हैं। मध्ययुग मे भी किन्ही कवियो ने इतिहास के भीतर से प्रेरणा ली थी, जिन्हे हम 'चारण' नाम से जानते हैं। उस युग मे इतिहास ने जहाँ तक कदम बढाया था वहाँ तक वह एक राज्य या एक सम्प्रदाय के घेरे में था। उसी के अनुरूप चारणो की कविता भी एक लघु परिधि मे निबद्ध है। अब सदियो की प्रगति मे मानवजाति अधिक विस्तीर्ण हो गई है। मानवजगत् मे अब राष्ट्रीयता ही नही, अन्तर्राष्ट्रीयता भी आगई है। केवल राजनीति की सिद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता ही नही, बल्कि आन्तरिक ऐक्य के लिए विश्व-मानवता भी आ रही है। इसके परिणाम-स्वरूप जिस मानव, जिस समाज, जिस विश्व के उदय की उदयाचल पर अरुणिमा प्रकट होने को है, उसी का स्वप्न हम नवयुग के पलको मे देख रहे हैं। यह स्वप्न एक देश की नही, बल्कि सम्पूर्ण देशो की मुसस्कृत आत्माओ मे अपना छायाचित्र उतार रहा है। हमारे साहित्य मे पन्त जी भी वही स्वप्नदर्शी हैं—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर,
मेरे विचार जग के विचार,

मेरे मानस का स्वर्गलोक,
उतरेगा भू पर नई बार!

× × ×

मै सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नही जग मे बाहर।

भावी के उपासक सभी कलाकारो का स्वप्न एक है, किन्तु आँखे उनकी अपनी-अपनी है, दृष्टि-बिन्दु एक है, किन्तु 'दर्शन' अपना-अपना है। इसी प्रकार पन्त भी सम्प्रति एक दार्शनिक है।

उन सत्ताओ और सामाजिक रूढ़ियो ने, जिन्हे मानो इन पंक्तियो मे लक्ष्य कर पन्त ने उनका 'युगान्त' चाहा है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे त्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिमताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड, पुराचीन!

विश्व के सुख-सौन्दर्य्य को निर्वासित कर दिया है, वसुन्धरा की निरीह सन्ताने श्री-हीन होकर अरण्य-रोदन कर रही है। रोते-रोते युग-युगान्त हो गया, किन्तु उनके आँसू न पुंछे! अन्तत अत्यधिक दीनता ही अत्यधिक शक्ति बन जाती

है। आज आँसुओ के बादलो में ही नवयुग का विद्युतालोक चमक पडा है, उसके तीक्ष्ण प्रकाश मे पीडितो ने देखा है—विश्व मे अन्धेर का कितना घटाटोप अन्धकार है। और वह अन्धकार भी क्या है? मानव-जीवन के लिए अन्ध-कारागार। 'युगान्त' के कवि के शब्दो मे—

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,
पाने को है निज सत्त्व,—मुक्ति!
जड़निद्रा मे जग कर चेतन!

वही चेतन यह भी जान गया है—

उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र! वह तुच्छ चीज़?

इस उद्दीप्त आत्म-चेतना, इस गर्वीले स्वाभिमान, इस उद्धत आत्मविश्वास से स्फूर्ति और शक्ति पाकर पीडित मानव-समाज ने अन्धकार मे उद्धार पाने के लिए जो उद्बुद्ध प्रयत्न किया है वह बीसवीं शताब्दी के इतिहास के पाठको के लिए अपरिचित नहीं। काव्य के भीतर से पन्त इसी प्रयत्न के एक प्रेषक हैं।

आज की साम्पत्तिक सभ्यता ने मानव को जिस नगण्य अवस्था मे पहुँचा दिया है, जिस अकिञ्चन स्थिति में पटक कर सारे जीवन मासूम विधवा की तरह क्रन्दन करने के लिए छोड दिया है, पन्त ने उसी मानव को, उसी प्रकाश-वंचित असन

सञ्चारिणी।

शिशु को 'युगान्त' में दुलराया है, 'युगवाणी' में सजग किया है। उसे पुचकारकर विश्व-मञ्च पर आत्मशक्ति से खड़ा होने के लिए आश्वस्त किया है। तुम जीवन की कुरूपता के प्रदर्शन के लिए नहीं हो, तुम तो भाग्यवान् हो, रूपवान् हो—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिरनिरुपम!

पन्त-जैसे द्रष्टा उसके प्राकृतिक रूप-रंग का ध्यान दिला रहे हैं। काव्य-कला में जो रूप-रस है, मनुष्य अपने प्रयत्न से जीवन में उसका उपभोग कर सके, कवित्व जीवन में मूर्त्त हो सके, मनुष्य अपनी दीनता-हीनता में विरक्त न होकर अनुरक्त बने, पन्त की यही टेक है। पन्त का वर्तमान कवि, कला से उदासीन नहीं, वह तो काव्य के लिए जीवन का चित्रपट चाहता है, मानो आत्मा के लिए शरीर।

इस नई कविता-धारा के लिए पन्त जी ने युगान्त में अपनी कोई बड़ी भूमिका नहीं दी है। किन्तु अपनी 'पाँच कहानियाँ' के 'पीताम्बर' नामक स्कैच में मानो उन्होंने 'युगान्त' की कहानी-मयी भूमिका दे दी है, वह पूरी कहानी उनकी सजीव एवं सांके-तिक भूमिका है।

'गुञ्जन' के स-र-ग-म में एकाएक पन्त का स्वर बदल गया था। उसने देखा, जीवन-सरिता के अतल में जाने कितने ऐसे अन्तस्वर अवाक् हैं जो विश्व-समुद्र में एकाकार होकर गंभीर नाद उठा रहे हैं।

जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

यह नहीं कि पन्त ने 'पल्लव' के यौवन की उपेक्षा कर दी, अपितु उसने देखा कि संगीत-कला में 'सम' हो सकता है, किन्तु आज के विश्व-संगीत में एक ऐसा वैषम्य है जो हमारे शैशव और यौवन को अकाल-वार्द्धक्य में परिणत किये दे रहा है। पन्त का नवजात कवि इस वैषम्य के परिहार के लिए विश्व-संगीत की उस स्वर-लिपि का स्वरैक्य खोज रहा है जिसके 'सम' पर हमारा शैशव-यौवन अकुण्ठित कण्ठ से चिरआलाप ले सके; उसका भावी जीवन संगीतमय ही हो जाय।

(७)

आधुनिक विकृतियों के कारण, 'पीताम्बर' उस अभाव-वाचक स्थिति पर पहुँच गया जहाँ जीवन की भाव-वाचक विभूतियाँ दुर्लभ हो गई हैं। सच तो यह है कि आज का चिन्तित समुदाय उस अशिक्षित 'पीताम्बर' की तरह ही एक करुण नीरसता का विवश जीवन बिता रहा है। पन्त पहले

मनोराज्य के कवि थे, अब वे उस मानव-राष्ट्र के भी लेखक हैं, जहाँ का अधिकाश अपने-अपने मनोराज्य का विडम्बित प्रतिनिधित्व कर रहा है, मानो मनुष्य की 'अन्तर्'-राष्ट्रीयता के तार टूट गये हैं—

जो एक, असीम, अखण्ड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन-सार्थकता !

'पल्लव' के 'परिवर्त्तन' मे पन्त ने कहा था—

हमारे काम न अपने काम
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवाकर पाते स्वीय स्वरूप !

यह पन्त की रहस्यवादी अभिव्यक्ति है। किन्तु 'युगान्त' मे छाया (मानो रहस्यवादी निगूढता) को लक्ष्य कर कवि कहता है—

पट-पर-पट केवल तम अपार
पट-पर-पट खुले, न मिला पार !
× × ×
तुम कुहुकिनि जग की मोहनिशा
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा !

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके लिए पूर्ण प्रत्यक्ष जीवन ही सत्य हो गया, साहित्य की चिरप्रचलित भाषा में कहा जा सकता है कि वे रियलिस्ट हो गये। किन्तु उन्हें केवल यथार्थ-वादी कहने से उनके कवि-रूप का परिचय नहीं मिलेगा। जिस प्रत्यक्ष जीवन को सत्य मानकर वे रियलिस्ट हैं, वह पाशव-जीवन नहीं—मानव-जीवन है। आहारादि, अष्ट प्रवृत्तियाँ पशुओं का है, मनुष्य में भी ये ऐन्द्रिक चेतना के कारण हैं। किन्तु मनुष्य इन्हीं में सीमित नहीं, इसी लिए वह पशु से भिन्न ('मनुष्य') है। उसकी मानवी स्वाभाविकता उसका मनोजात कलात्मक जीवन है। पशु के बाद मानव-सृष्टि का कारण स्रष्टा का आइडियलिज्म ही है, अन्यथा, मनुष्य कलात्मक न होकर पाशविक ही रह जाता। इसी कलात्मक मनुष्य की स्वाभाविकता को जगाना पन्त का काव्य-ध्येय हो सकता है। आज के पाशविक जगत् से मानवता उतनी ही दूर है जितनी दूर मानवता से ईश्वरता। रहस्यवाद का आधार जो मनुष्य प्रसुप्त है, सम्प्रति उसी मनुष्य को पन्त का वैतालिक सम्बोधन दे रहा है—

> प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हे
> उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
> क्या कमी तुम्हे है त्रिभुवन में
> यदि बने रह सको तुम मानव!

इसे हम पन्त का 'मानववाद' कह सकते हैं। पन्त का मानववाद, यथार्थवाद और रहस्यवाद के बीच की वस्तु है। इन दोनों में, मेरी समझ में, मानववाद, रहस्यवाद की ओर हो जायगा, क्योंकि उसके बिना वस्तुजगत् गोचर-भूमि (ऐन्द्रिक-विहार) मात्र रह जायगा। सम्प्रति मानववाद इसी लिए सापेक्ष्य है कि वह आज की पाशव-भूमि को मानव-आवास के योग्य बना दे।

(८)

प्रसंग-वश एक लेख में निवेदन किया जा चुका है कि भावना और चिन्तना के सम्मिश्रण की आवश्यकता भाव-जगत् और वस्तुजगत के एकीकरण के लिए पड़ती है। पन्त जी ने 'युगान्त' तथा 'युग-वाणी' में यही एकीकरण किया है। यही एकीकरण हमें द्विवेदी-युग में गुप्त जी की कविताओं में भी मिलता है। इस नई भूमि में पन्त जी का झुकाव पहिले की अपेक्षा कला की सादगी की ओर है। द्विवेदी-युग के कवियों में गुप्त जी और ठाकुर साहब सादगी की कला के एक दृष्टान्त हैं। ठाकुर साहब की मधुरता, गुप्त जी की ओजस्विता और पन्त जी की प्रासादिकता (नवीन सरल व्यञ्जना) से हिन्दी-कविता की एक नव्यतम सजीव कला बन सकती है।

पन्त की नई कला, युग के किशोर की कला है, उसमे नव-युग नवोत्कण्ठ है। यदि छायावाद-युग मे कोई किशोर कवि खड़ीबोली की कविता मे नव-अग्रसर हो और काव्य-कला के उपकरण पन्त की कविताओ मे तथा काव्य के उपादान द्विवेदी-युग के कवियो की भाँति सामयिक जगत् मे ग्रहण करे तो उसका कवि-रूप वह होगा जो 'युगान्त' मे है। उसका यह रूप कुछ-कुछ गुप्त जी से भी सादृश्य रखेगा, क्योकि द्विवेदी-युग मे गुप्त जी वही वैतालिक है जो छायावाद-युग में पन्त जी। अन्तर दोनो के दृष्टिकोण मे है। गुप्त जी पौराणिक सस्कृति के वैतालिक है, पन्त जी समाजवादी जागृति के। किन्तु उद्‌बोधन के पथ मे दोनो का कण्ठ एक हो जाता है—

बढ़ो अभय, विश्वास-चरण धर!
सोचो वृथा न भव-भय कातर!

—पन्त

धर दृढ़ चरण, समृद्धि वरण कर
किरण-तुल्य बढ़ आगे;
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे!

—गुप्त

अन्तर यह है कि गुप्त जी का मुख अतीत की ओर है, पन्त का भविष्य की ओर। दोनो दो भिन्न दिशाओ के प्रगतिशील है।

(१)

कवि जब वस्तुजगत् के लिए आइडियल होना चाहता है, तब उसकी कला सादगी की ओर चली जाती है और जब भाव-जगत् के लिए तब अलंकृति की ओर। वस्तुजगत् की सादगी में कल्पनाशीलता कम और दैनिकता अधिक रहती है, भाव-जगत् में दैनिकता कम और कल्पनाशीलता पर्य्याप्त। कल्पना-शीलता के आतिशय्य की प्रतिक्रिया सादगी है, सादगी के आतिशय्य की प्रतिक्रिया यथोचित कल्पनाशीलता है। अत्य-धिक सादगी कविता को गद्य बना देती है, अत्यधिक कल्पना-शीलता कविता को भेंड़ती। सयमित सादगी और सयमित अलंकृति कविता को कविता बनाती है। सादगी और अलंकृति का उचित स्थान पर उचित सन्निवेश भी कवि की एक कला है।

रीति-काल की कल्पनाशीलता के आतिशय्य के प्रतिकूल द्विवेदी-युग की कविता अति सादगी से शुरू हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण का शिशुभारत उसके सामने आया, द्विवेदी-युग का काव्य उसका चारण बना। किन्तु ज्यों-ज्यों नई शताब्दी का भी जीवन-विस्तार बढ़ता गया और चिरन्तन मनुष्य की चिरन्तन प्रवृत्तियाँ (जो वस्तुजन्य ही नहीं बल्कि रसात्मक भी है) काव्य में स्थान बनाती गईं, त्यों-त्यों खड़ीबोली का काव्य गद्य से ऊपर उठता गया। अन्त में छायावाद ने रीति-काल की अति-कल्पकता को निखार दिया। द्विवेदी-युग ने

वस्तुजगत् का प्रतिनिधित्व किया था, छायावाद ने भावजगत् का प्रतिनिधित्व किया। रीतिकाल के भावजगत् के दुरुपयोग के प्रति द्विवेदी-युग प्रारम्भ से ही भावजगत का आदर्श इसलिए उपस्थित नहीं कर सका कि उस तत्काल वह साहित्यिक सहयोग नहीं प्राप्त हुआ जो छायावाद को मध्यकाल के बाद के अन्य साहित्यों से मिला।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हिन्दी-कविता ने छायावाद के बाद फिर एक परिवर्त्तन उसी प्रकार ग्रहण किया, जिस प्रकार द्विवेदी-युग की कविता ने रीतिकाल की कविता के बाद। पन्त के 'युगान्त' और 'युगवाणी' की कविताएँ इसी परिवर्त्तन-काल की हैं। दोनों ही परिवर्त्तन वस्तुजगत् की सामयिक हलचलों से प्रेरित हैं, फलत उनकी कला सादगी की ओर है। दोनों जीवन की दैनिक स्वाभाविकता की ओर उन्मुख हैं। मध्यकाल के बाद आधुनिक जीवन का प्रारम्भ होने पर जिस प्रकार छायावाद का उदय हुआ, उसी प्रकार आधुनिक युग के बाद के नव-निर्म्मित जीवन में फिर छाया-वाद का कोई परिष्कृत रूप आ सकता है और अज्ञात भावी युग छायावाद की कल्पनाशीलता को (यदि उसमें कोई नुक्स आगया हो तो) उसी प्रकार निखार देगा, जिस प्रकार छाया-वाद ने मध्यकाल की कल्पकना को निखार दिया। छायावाद की वह भावी कला पन्त जी की 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता में

सम्भाव्य है, जिसमें वस्तुजगत् और भावजगत् का काव्योपम सामञ्जस्य है, संयमित सादगी और संयमित अलंकृति है। यह असंभव नहीं कि छायावाद रहेगा, मानव अस्तित्व के साथ वह सदैव रहा, नव-नव रूप-रंगों में उसका पुनर्जन्म होता गया। युग समाज को बदल सकता है, किन्तु उसके कल्पनाशील स्वभाव को नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् का मनुष्य अनेक अदृश्य वातावरणों में भी रहता है, इसी लिए उसके जीवन में स्वप्नों की मनोहरता है।

छायावाद का उत्कर्ष

(१)

आज की खड़ीबोली की कविता पिछले बीस-पचीस वर्षों की देन है, यह अल्पकाल न पूरी एक शताब्दी है, न आधी शताब्दी, बल्कि बीसवीं शताब्दी का है एक प्रवेशकाल मात्र।

उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु-युग, मध्ययुग को बीसवीं शताब्दी के द्वार पर छोड़कर चला गया। भारतेन्दु-युग के हाथ में जो मध्युग आया था, वह हिन्दी-कविता के रीतिकाल का अवशेष था। भारतेन्दु-युग को रीतिकाल से कोई असन्तोष न था, बल्कि उसने यथाशक्ति उसका परिपोषण करने का ही प्रयत्न किया। किन्तु देश की नई आबहवा में वह रीतिकाल झड़ गया। रीतिकाल के पतझड़ में साहित्य और समाज के जो नवीन किसलय फूटे, उनकी शिराओं में नव-चेतना का रक्त बहने लगा। यह मानो बीसवीं शताब्दी की नूतन ऋतु का आगमन था। जिस प्रकार एक वृद्ध अपने गत यौवन का मोह न छोड़ते हुए भी नवीन शैशव को प्यार करता है, उसी प्रकार भारतेन्दु-युग ने भी रीतिकाल के पतझड़ को तो अपने अंक से लगाया, साथ ही नवीन चेतना को भी अपने कण्ठ से लगाकर राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं का स्वर दिया।

भारतेन्दु-युग के वाद द्विवेदी-युग ने उस नवीन चेतना को ही विशेष रूप से वाणी और स्फूर्ति दी। साथ ही, उसने उस नवीन चेतना के शिशु ललाट पर मध्ययुग की श्रद्धा का चन्दन भी लगा दिया, उसने रीतिकाल के पतझड को तो नही ग्रहण किया, किन्तु भक्ति-काल के मलय-सुवास को अपनी आत्मा मे वसा लेना चाहा। खडीबोली के नवचेतन मस्तक पर उसका चन्दन-बिन्दु उसके आन्तरिक केन्द्र-बिन्दु का प्रतीक था, वह था देश-काल के क्षणिक सत्यों के वीच भक्ति-काल के शाश्वत सत्य का एक क्लासिकल निर्देश।, अतएव खडीबोली की कविता मे द्विवेदी-युग से वाह्य और अन्तर दोनो ही चेतनाये अग्रसर हुई, इनका एकीकरण हम देख सकते है, मुख्यत वाबू मैथिलीशरण के काव्य मे, देश-भक्ति और प्रभु-भक्ति के स्वरूप मे। यह एकीकरण हमारे सभी कवियो मे नही मिलेगा।

द्विवेदी-युग के कवियो मे गुप्त जी के अतिरिक्त, जिन अन्य कवियो ने वाह्य और अन्तश्चेतना का एकीकरण करना चाहा, वे पूर्णत द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि न होकर खडीबोली के बानक भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि थे—अर्थात् रीतिकाल की कविता उनकी अन्तश्चेतना वनी हुई थी और बीसवी शताब्दी की सार्वजनिक जागृति उनकी वाह्य चेतना। ऐसे कवियो मे श्रीधर पाठक, हरिऔध, गोपालशरण और सनेही के नाम लिये जा सकते है।

इधर द्विवेदी-युग के सीनियर कवियों के बाद जो नवयुवक कवि आ रहे थे उन्होंने बाह्य चेतना को तो गौणरूप में ग्रहण किया, अन्तश्चेतना को प्रमुख रूप में। वह अन्तश्चेतना जो कबीर, सूर, तुलसी, मीरा और रसखान की साँसों से हमारे साहित्य में जीवित चली आ रही थी, नवयुवकों द्वारा नये काव्य-साहित्य में भी प्राण-प्रतिष्ठा पा गई। अपनी-अपनी अनुभूति में अपने-अपने यौवन से, उन्होंने अन्तश्चेतना को मध्ययुग की अपेक्षा एक भिन्न रूप और एक भिन्न ज्योति से कवित्वमण्डित किया। चूँकि अन्तर्दिशा को ही लेकर वे चले, इसलिए द्विवेदी-युग की अपेक्षा वे उस दिशा में अधिक उन्नत कलाकार और भावोद्भावक हुए। द्विवेदी-युग का व्यक्तित्व तो अपनी कला में मध्ययुग के मध्यवित्त भारतीयों के अप-टू-डेट वेश-विन्यास जैसा है किन्तु ज्यों-ज्यों बीसवीं शताब्दी आगे बढ़ती गई, त्यों-त्यों हमारे साहित्य और समाज के डिजाइन भी बदलते गये। फलत हमारी अभिव्यक्ति में केवल हिन्दी-हिन्दुस्तान के मुहाविरे और संस्कार ही न रहे बल्कि उसमें विश्वसमाज और विश्वसाहित्य की तर्जअदा भी आगई। और इन बीस-पच्चीस वर्षों में ही खड़ीबोली द्विवेदी-युग से एकदम भिन्न हो गई। साहित्य और समाज के इस परिवर्तनकाल में, गांधी-युग सामने आया। गांधी-युग ने अन्तश्चेतना को मूलत वही रक्खा, जो मध्य-युग के सन्तों या भक्तिकाल की

कविता मे थी, साथ ही वह वाह्य चेतना (सामाजिक और राष्ट्रीय जागृतियो) को भी मूल-स्वरूप के बहुत निकट खीच लाया। उसने साहित्य और समाज को सन्तो का बानक दे दिया। इधर साहित्य और समाज के जो नये डिजाइन बन चुके थे, वे तो बने ही रहे—विश्वसाहित्य और विश्वसमाज के सम्मुख उपस्थित होने के लिए, साथ ही, अपने देश और अपने साहित्य के साथ आत्मीयता बनाये रखने के लिए गाधी-युग का विन्यास भी अगीकृत हुआ । साहित्य और समाज के नये डिजाइनो के बीच गांधी-युग का यह विन्यास हमारे काव्य मे गुप्त जी के साहित्य मे आच्छादित हुआ। इसी लिए वे पुरातन होकर भी आधुनिक रहे। उनको कविताओं मे खादी की भाँति ही एक आधुनिकता-रहित आधुनिकता है। छायावाद के कवियो की काव्य-कला में जब कि एक रोमान्टिक आधुनिकता है, गुप्त जी की कविताओ मे एक क्लासिकल आधुनिकता। उस क्लासिकल आधुनिकना को कला का रोमान्टिसिज्म मिला क्रमश माखनलाल, नवीन और निराला की कविताओ से।

जैसा कि पहले निर्देश कर आया हूँ, द्विवेदी-युग के कवियो के वाद छायावाद के जो नवयुवक कवि आ रहे थे उन्होंने अन्तश्चेतना को ही प्रमुख रूप से ग्रहण किया। वाह्यचेतना के क्षेत्र मे हमारे राष्ट्रीय कवि अपना कर्त्तव्य पूरा कर ही रहे थे, अतएव छायावादो कवियो ने अन्तश्चेतना के अन्तर्गृह मे हो

अपना स्थान बनाया। राष्ट्रीय कवियो ने बाहर की चौकसी ली, छायावादी कवियो ने भीतर का साज-समाज सँजोया। विश्राम-स्वरूप बाह्यक्षेत्र मे जो कवि इस अन्त क्षेत्र में आये, छायावाद ने उन्हे भी अपनी सीमा मे अन्तर्भुक्त कर लिया, इसी लिए माखनलाल और नवीन राष्ट्रीय कवि होते हुए भी छायावादी कवि के रूप मे भी गृहीत हुए।

(२)

छायावाद की कविता न तो एकदम शृगारिक है, न एकदम भक्तिमूलक, उसमे इन दोनो के बीच का व्यक्तित्व है—अनुराग। द्विवेदी-युग ने भक्तिकाल को तो स्पर्श कर लिया था, किन्तु रीतिकाल की अवहेलना कर दी थी, यही नही, बल्कि उसने शृगार-काल की अति-रसिकता के प्रतिरोध मे ही खडीबोली का आह्वान किया था। छायावाद-युग के कवियो ने न तो शृगार की सर्वथा उपेक्षा की और न द्विवेदी-युग के प्रति कृतघ्नता। नवीन छायावाद असल मे हिन्दी-कविता के उस स्वस्थ-काल का आविर्भाव है जब कि साहित्य एक लम्बी प्रगति के बाद अपनी थकान मिटाकर अपनी समस्त अनुभूतियो और सम्पन्न अभिव्यक्तियो का सार-सचय करता है, एक कौम के रूप मे। फलत छायावाद ने द्विवेदी-युग से खडीबोली की काव्य-कला का प्रारम्भिक सस्कार लेकर विश्व-साहित्य के साहचर्य मे उसका विकास तो किया ही, साथ ही उसने मध्ययुग की काव्य-

विभूतियो मे अपनी इष्ट-सिद्धि भी ली। शृगार-काव्य से उसने हृदय की रसात्मकता ग्रहण की, भक्ति-काल से आत्मा की तन्मयता। अथवा यो कहे कि उसने भक्ति को मधुर बनाकर ग्रहण किया और वही मधुर भक्ति है अनुराग या छायावाद। द्विवेदी-युग ने शृगार-काल की रसिकता मे ऊबकर खडीबोली की कविता मे एक तरह मे सरसता का बायकाट-सा कर दिया था। उस युग मे जो थोडी बहुत सरसता मिलती भी है वह एसी है मानो किसी रूखे-सूखे मकान के सहन मे एक-आध गमले रख दिये गये हो। द्विवेदी-युग के बाद छायावाद ने ही अपने अनुराग के रस से हिन्दी-कविता को एक बार फिर सरस कर दिया।

(३)

हमारी कविता को जनता के बीच भी लाने का श्रेय निम-न्देह काग्रेस को है। किन्तु काग्रेस ने हमारी कविता का शृगार नही किया, उसके अन्त सौन्दर्य को उसने नही मण्डित किया। कला-मण्डन का श्रेय तो शान्ति-निकेतन के उस वृद्ध वाल्मीकि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को है। कांग्रेस ने अथवा महात्मा गाधी ने मनुष्य के तन-बदन की सुध ली, कवि ठाकुर ने उसके हृदय की। महात्मा ने प्राण-प्रतिष्ठा की, कवि ने उन प्राणो को झनकार दी। महायुद्ध के बाद का हमारा समाज और साहित्य गाधी और रवीन्द्र के सम्मिलित व्यक्तित्व से ही अपना एक

विशेष युग बनाता है। आज की राजनीतिक परिस्थितियो में भी इस युग का मूल है भक्ति-काल, जैसा कि वह अपने समय की संघर्षमय सार्वजनिक परिस्थितियो मे था। आज उस मूल के तना है महात्मा गाधी, उसके पल्लवित-पुष्पित-विकास है रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

कवि रवीन्द्रनाथ की दस उँगलियाँ दसो दिशाओ मे घूमी-फिरी, और उन्होने ससार के बीच सम्पूर्ण भारतीय कलाओं को अपने ज्योति स्पर्श से जगमगा दिया—क्या गद्य, क्या काव्य, क्या सगीत, क्या नृत्य, क्या चित्र, क्या शिल्प। आज के सक्राति-काल मे कवि ठाकुर ने ही कला की निधियो को अपने प्राणो मे सँजो रक्खा, ताकि अपने ललित विकास के लिए नई पीढी कभी उन्हे स्वस्थ हृदय से ग्रहण कर सके। आपत्तिकाल मे म्युजियम नष्ट हो सकते है, जैसे आज चीन और स्पेन मे वे युद्ध-ध्वस्त हो रहे है, किन्तु कला के भीतर जो जीवित मनुष्य है, वह नही मरता। रवीन्द्रनाथ कला के वही जीवित मनुष्य है और जब तक रूखी-सूखी पृथ्वी पर एक भी हरियाली शेष रहेगी तब तक रवीन्द्रनाथ का नव-नव आविर्भाव होता रहेगा। आज खडीबोली की कविता मे छायावाद का जो नव-जाग्रत् अन्त प्रकाश है, वह भी उसी रवि का उजास है।

छायावाद का अन्त प्रकाश हमारे काव्य के जिन दीपस्तम्भों से प्रकाशित है, वे है—सर्वश्री 'प्रसाद', माखनलाल, 'निराला',

पन्त, महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि। इनके पूर्व, द्विवेदी-युग के कवियों ने खडीबोली की शरीर-रचना कर दी थी, विशेष-कर गुप्त जी ने कविता के सभी अवयवों का एक मॉडल बना दिया था, किन्तु उस मॉडल को चित्रवाणी देने का श्रेय छाया-वाद के कवियों को ही है। उन्होंने खडीबोली को सौन्दर्य की तूलिका से सँवारकर, अन्तर्वेदना की बाती से प्रदीप्त किया।

(४)

खडीबोली के पूर्वकाल के प्रतिनिधि है गुप्त जी, उत्तरकाल के प्रतिनिधि छायावाद के कवि। गुप्त जी प्रधानत भावों और विचारों के एक माध्यम कवि रहे है। उनका अपना कवि पाठकों के सामने बहुत सक्षिप्त है। वे राजनीतिक जागृतियों और धार्मिक विश्वासों को जनता के प्रीत्यर्थ उपस्थित करते रहे है, जिनके लिए उन्हें राष्ट्रीय नेताओं और प्राचीन कथाओं का साधन प्राप्त हुआ। दूसरी तरफ़ कला के क्षेत्र में उन्होंने अधिका-धिक अनुवाद दिये। अनुवादों द्वारा भी उनकी रुचि प्राचीन विकास की ओर है, इसी लिए माइकेल और खैयाम को तो उन्होंने हमें दिया, किन्तु रवीन्द्रनाथ को नहीं। इसका कारण यह कि वे भावुक उद्भावक नहीं, बल्कि स्वय भी एक ऐसी प्रभावित जनता है जो देश-काल के अनुसार अपनी गति-विधि बनाकर अपनी पुरानी मर्यादा में चल सकती है। भावुकता के अभाव में वे प्राचीनता से सम्बद्ध साहित्य से बहुत आगे न

जा सके, यदि गांधी का भारत उनके सामने न रहता तो उनका मौलिक काव्य 'साकेत' भी दुर्लभ ही रहता। गुप्त जी के बाद आवश्यकता थी उद्भावक भावुकों की। छायावाद के कवि वही उद्भावक भावुक हैं, जिसके अगुआ हैं—प्रसाद और माखनलाल। यद्यपि खड़ीबोली में छायावाद की कविता का श्रीगणेश करने का श्रेय 'प्रसाद' को दिया जाता है, किन्तु उसके प्रति रुचि जाग्रत् करने का श्रेय माखनलाल को है।

गुप्त जी ने देश-काल की जागृति में अपनी राष्ट्रीय कविताओं से लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी, उचित अवसर पर उचित वस्तु का उन्होंने यथेष्ट मूल्य प्राप्त कर लिया था। राष्ट्रीयता के उस जाग्रत् काल में 'प्रसाद' माधुर्यभाव को छायावाद की व्यंजना में लेकर आये थे, किन्तु गुप्त जी के राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व में वे प्रधान न हो सके। उनके लिए उपयुक्त अवसर न आया था। इधर, गुप्त जी की कविताओं ने राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व तो किया, साथ ही उनके अनुवाद-ग्रंथों ने नवयुवकों में काव्य की रसात्मकता के लिए भी एक भूख-प्यास जगा दी थी, विशेषत माइकेल की 'विरहिणी व्रजांगना' ने। इस प्रकार गुप्त जी माधुर्य-भाव के लिए पूर्वपीठिका बने। किन्तु, इस समय भी 'प्रसाद' की कविताओं के लिए अवसर न उपस्थित हो सका था। कारण, नवयुवक-समुदाय माधुर्य का कुछ रसास्वाद पाकर भी सार्वजनिक जागृति के प्रति चमत्कृत था। गुप्त जी की कविताओं

के रस में वह इतना छका था कि वह सौन्दर्यानुराग और लोकानुराग की किसी सम्मिलित अभिव्यक्ति को ही ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो चला था, न कि केवल माधुर्यभाव को। साथ ही वह काव्य को ग्रहण करने में उस अभिधेय-शैली तक ही उठ चुका था, जिसका परिचय उसे गुप्त जी की कविताओ से मिल चुका था। फलत उसी कोटि की नवीनता के इच्छुक नवयुवको का ध्यान उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' की ओर गया। गुप्त जी की गद्योपम खडीवोली के बावजूद नवयुवको को उपाध्याय जी की सस्कृत-गर्भित खडीवोली में एक नवीनता मिली। किन्तु उपाध्याय जी की वह भाषा, हिन्दी की तत्कालीन परिधि में नवीन भले ही लगी हो, पर वह आधुनिक कविता की भाषा नही थी। उपाध्याय जी के पास एक क्लासिकल भाषा थी, नवीन भाव नही थे। आगे चलकर उनके 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' इस बात के प्रमाण हुए कि उनसे एक पुरानी रुचि की जनता के लिए भाषा तो मिल सकती है, किन्तु काव्य की बढ़ती हुई प्रगति के लिए उपादान नही। ठीक इसी समय माखनलाल जी की कविताएँ सामने आई, गुप्त जी की खडीबोली की प्रेरणा में एक सक्षिप्त भारतीय नवीनता लेकर। गुप्त जी की विस्तृत वर्णनात्मक कविताओ के बजाय, माखनलाल की षट्पदियो में उस भावुक-समाज को जो दोहो, सवैयो में अपनी भावुकता को मश्क कर चुका था, अपने मन का नूतन सरञ्जाम

मिला। केवल इसलिए नहीं कि वे संक्षिप्त थीं बल्कि उनमें अभिव्यक्ति की नवीन विदग्धता थी, उर्दू कविता की तर्ज़अदा में।

गुप्त जी के बाद उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' की लोकप्रियता यह सूचित करती है कि नवयुवकों में खड़ीबोली का अनुराग उत्पन्न हो जाने पर भी वे ब्रजभाषा के माधुर्यभाव का मोह न छोड़ सके थे। अतएव नवीनता के लिए उन्होंने माधुर्यभाव की आधुनिकता, ब्रजभाषा के बाद माखनलाल की कविताओं द्वारा हिन्दी में उर्दू से ग्रहण की। इतने अभ्यास के बाद वे ज़रा और आगे बढ़कर नव्यतम आधुनिकता के स्वागत-योग्य हो गये। फलत राष्ट्रीय जागृति की भाँति ही, हृदय के भीतर कविता के भी जग जाने पर वे 'प्रसाद' को भी ग्रहण करने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार गुप्त जी, उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' के लिए पूर्वपृष्ठ बने, उसी प्रकार माखनलाल, प्रसाद जी की कविताओं के लिए। गुप्त जी खड़ीबोली को जगानेवाले वैतालिक हैं, माखनलाल कविता के उद्बोधक और 'प्रसाद' वर्त्तमान हिन्दी-कविता के आरम्भिक गायक। और यह गायक भी छायावाद के अन्य कवियों की पूर्वपीठिका बना।

गुप्त जी, उपाध्याय जी, माखनलाल जी और प्रसाद जी, इन कवियों का क्रमिक अपनाव यह सूचित करता है कि भावुक समाज क्रमश काव्य-कला के निखार की ओर अग्रसर हो रहा

था और जैसे ग्रामीण भारत ने अपने विकास में नागरिक भारत को पाया, उसी प्रकार हमारा काव्य-साहित्य भी मध्ययुग की अपनी ठेठ-प्रकृति के भीतर से साहित्यिक आधुनिकता को ग्रहण करने लगा, एक ललित-प्रांजलता की ओर बढ़ने लगा।

(५)

माखनलाल के बजाय 'प्रसाद' अधिक ललित होकर भी अपनी काव्यकला में अपना नाटकीय गद्य-संस्कार न छोड़ सके। अतएव उनकी कविता अपनी भाषा में छायावाद-युग से पूर्ण अभिन्न होते हुए भी द्विवेदी-युग से भी कुछ अभिन्न है। गुप्त जी और प्रसाद जी, ये दोनों ही द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के मध्यवर्ती हैं, किन्तु अन्तर यह है कि गुप्त जी द्विवेदी-युग के अधिक पार्श्ववर्ती हैं और प्रसाद जी छायावाद-युग के। प्रसाद जी की सफल कृतियाँ छायावाद-युग अर्थात् खड़ीबोली के उत्तर-काल में ही रची गई हैं पूर्वकाल में तो उनके नूतन कवित्व का विरल परिचय ही मिलता है, जब कि गुप्त जी का कवित्व उसी काल में घनीभूत है—यहाँ तक कि 'साकेत' का सुन्दर प्रारम्भ भी उसी काल में हुआ था।

खड़ीबोली के उत्तरकाल में काव्यकला को जिस परिपूर्ण ललित प्रांजलता की आवश्यकता थी, वह ललित प्रांजलता पन्त में आकर खूब निखरी।

प्रसाद और माखनलाल के वाद छायावाद के जो सीनियर कवि आते हैं, वे हैं निराला और पन्त। निराला का काव्य अपनी प्रतिभा की जटिलता मे एक 'गहन-गिरि-कानन' है, पन्त का काव्य अपनी स्वच्छ सुषमा में एक पल्लवित-गुञ्जित उद्यान ।

काव्यकला की आधुनिकता मे निराला उसी प्रकार बोझिल हैं, जिस प्रकार खडीबोली की पिछली प्राचीनता मे उपाध्याय जी का 'प्रिय-प्रवास'। और यह उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार 'युगान्त' से पन्त की कविताओ का 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे'-जैसा हो जाना। अवश्य ही निराला जी ने खडीबोली की उस कविता को, जो गुप्त जी और उपाध्याय जी मे वृद्ध हो चली थी, नवयौवन दिया। इसी लिए हम उन्हें क्लासिकल आधुनिकता को काव्यकला का रोमान्टिसिज्म देने-वालो की पंक्ति मे स्मरण कर चुके हैं, और वे उस पंक्ति मे श्रेष्ठतम हैं।

द्विवेदी-युग की जो कविता माइकेल-काल के वाद रवीन्द्र-युग की ओर नही वढ सकी थी, जो अपने सीमित विकास मे अवरुद्ध हो गई थी, उसे निराला की कविताओ से ही अभ्युदय मिला। निराला का काव्य द्विवेदी-युग का ही नवोत्थान है। प्रसाद जी द्विवेदी-युग द्वारा जिसका ; व्योत्थान को देखने के लिए अधीर थे, जिसके अभाव मे उन्होंने क्षुब्ध होकर 'सरस्वती' से पृथक् मासिक 'इन्दु' मे अपना स्थान वनाया था, उस उत्थान का

कवि द्विवेदी-युग के भीतर मे ही उनके हमजोली के रूप मे उनके उत्तरकालीन काव्य-काल में आ मिला और उन्होंने 'गीतिका' की भूमिका मे उसका अभिनन्दन किया।

(६)

पन्त ने प्रसाद और निराला दोनों से ही भिन्न रचना को अग्रसर किया। द्विवेदी-युग की जो खडीबोली रूपान्तरित होकर प्रसाद-द्वारा छायावाद बन गई थी उस छायावाद का पूर्ण शारीरिक परिष्कार पन्त ने ही किया। प्रसाद और निराला की भाषा और अभिव्यक्ति मे द्विवेदी-युग के सस्कारवश जो गाद्यिकता शेष थी, पन्त जी ने उसे इतिश्री देकर अपनी तूलिका से खड़ीबोली को पूर्णत कविता की भाषा बना दिया। और वह खडीबोली इतनी मधुर और कोमल हो गई कि यदि आज ब्रजभाषा जीवित होती तो उसे खडीबोली से ईर्ष्या होती।

पन्त ने दूर्वा-सी कोमलता बिछाकर खड़ीबोली की नूतन श्री का स्वागत किया था। वह नूतन श्री पन्त की ही मानसी सृष्टि थी। शृगार-काल की कविता यदि सौन्दर्य का ऐन्द्रिक बन्धन छोडकर प्रकृति की दिगन्त-व्याप्त सीमा से जा मिले तो उसके हृदय मे जो नवीन सगीत बजेगा, नेत्रो मे जो नवीन प्रकाश जगमगायेगा, उसी सौन्दर्य और प्रकाश से पन्त की कविता मुखरित-ज्योतित हुई। पन्त जी की वह कविता क्या है? एक शब्द मे—'प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप

सँवारति।'—प० श्रीधर पाठक प्रकृति को जो साज-शृगार देना चाहते थे, परन्तु कोमल होते हुए भी प्रतिभा के सकोच मे गोल्डस्मिथ से आगे नही जा सके, उनकी उस अवरुद्ध क्लासिकल प्रतिभा को पन्त के ही यौवन से रोमान्टिसिज्म मिला। अवश्य ही पन्त की कविता ने भी पार्थिवता को ही ग्रहण किया, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे, पृथ्वी की रूखी-सूखी धूसर मिट्टी को सुरुचि से छानकर, अनुराग से रँगकर, सगीत से सजीव कर, उन्होने एक दिन वडी वारीकी से कविता की सौन्दर्य-रचना की थी।

उनकी कविता मे अपार्थिव सकेत भी है, किन्तु सृष्टि के भीतर रहकर ही। सृष्टि मे जो कुछ प्रत्यक्ष है उसी के द्वारा उन्होने अपर सत्य को जानना चाहा, जैसे क्षिति से क्षितिज को। उन्हे नक्षत्रो से, खद्योतो से, ओसो से मौन निमन्त्रण मिलता है, किन्तु वे उससे विस्मित होकर बोल उठते है—

न जाने कौन अये द्युतिमान!
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
फूंक देते छिद्रो में गान।

फलत पन्त ने प्रकृति के विस्तार मे, सृष्टि के प्रसार मे क्षितिज तक उठकर पृथ्वी पर ही चाँदनी की चादर विछा दी। पन्त मुख्यत सौन्दर्य्योल्लास के कवि है, उनके कवित्व का सार है यह—

अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्य्यों की सन्धान !!

उनकी कविता मे एकान्त-क्रीडा है, पीडा नही—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा !
वह अपनी वयवाली में।

× × ×

अरी सलिल की लोल हिलोर
यह कैसा स्वर्गीय हुलास !
सरिता की चञ्चल दृगकोर
यह जग को अविदित उल्लास !!

× × ×

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान,
कुसुम के चुने कटोरो से
करा दो न कुछ कुछ मधुपान।

इस प्रकार पन्त जी ने जीवन मे सौन्दर्य और सगीत को प्यार किया, जीवन की स्वर्गीय विभूतियो को वरण किया। हाँ, उनकी कविता राजसी है, तापसी नही,—

कभी स्वर्ग की थीं तुम अप्सरि
अब वसुधा की बाल,

जग के शैशव के विस्मय से

अपलक - पलक - प्रवाल !

वही 'वसुधा की बाल', वही स्वर्ग की सौन्दर्यकुमारी पन्त की कविताओ द्वारा पृथ्वी पर चाँदनी की तरह किलक-पुलक उठी है।

जग के शैशव के विस्मय से

अपलक-पलक प्रवाल !

ऐसे ही विस्मित शैशव का कवि, पन्त के काव्य मे है। सौन्दर्योल्लास को पन्त ने यौवन की अपेक्षा शैशव की सहज सुषमा मे ग्रहण किया था—

सरल शैशव के सुखद सुधि-सी वही

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

× × × ×

वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर

× × × ×

उसके उस सरलपने से

मैंने था हृदय सजाया,

बहु ललित कल्पनाओ का

कह कल्पलता अपनाया।

बाल-कल्पना-सी ही सुकुमार उनकी कविता है।

जिस प्रकार सूर बाल्यप्रकृति के कवि हैं उसी प्रकार पन्त भी। अन्तर यह है कि सूर ने बचपन का चित्रण किया है, पन्त ने बचपन-द्वारा देखे हुए भावाकुल सृष्टि का।

परन्तु बचपन का ससार आँखो के सामने से हटते ही वास्तविकता का ससार हमारी बुद्धि के सयानेपन से आ मिलता है और जीवन के प्रागण में जहाँ चाँदनी छिटकती है, वही धूप भी खिलखिला पडती है, मानो बचपन के आँगन में उष्ण यौवन हँस पडता हो। चाँदनी-सी सरलता मे सम्पूर्ण सम-विषम विश्व को मनोरमता-पूर्वक ग्रहण कर लेनेवाले पन्त के भावविस्मित शैशव का जो आसन (हृदय) रिक्त हो गया है, वहाँ अब वस्तुवादी यौवन अधिकारारूढ हुआ है, मस्तिष्क जिसका प्रधान मन्त्री बन गया है। आज उसका ससार और उसके देखने का दृष्टिकोण बदल गया है। पन्त के कवि में पहले केवल मुग्धता थी, अब उपभोग्यता भी आगई है। पहले पन्त में प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनो के बीच की चित्तवृत्ति (शिशुता) थी, अब उनका कवि प्रवृत्ति की ओर ही प्रधान रूप से अग्रसर है—

ईश्वर का वरदान तुम्हे
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव !

यह है उनका नवीन निर्देश !

यहाँ यह सूचित करना होगा कि प्रवृत्ति के जगत् मे पन्त के कवि-यौवन को प्रारम्भ से ही युग की कठिन वास्तविकता का

सामना करना पड़ा, एक निरे गद्य-युग मे उनके नये कवि को आना पड़ा, अतएव वे अपने वर्तमान उद्गारो मे काव्य-सरस न रह सके।

पन्त की कविता मे जब चाँदनी (सहज सरलता) का व्यक्तित्व था तब उसके प्रकाश (सौन्दर्य) और सगीत (माधुर्य) से प्रकृति मे एक स्वर्गीय सुषमा छा गई थी, वस्तुजगत् एक प्रसन्न शीतलता से स्नात होकर निखर गया था। चाँदनी का सूक्ष्म स्निग्ध सौन्दर्यावरण हटते ही, दिवस के गद्यप्रकाश मे धूसर वस्तुजगत् अपनी जिस वास्तविकता मे स्पष्ट हो जाता है, आज उसी वास्तविकता का नग्न जगत् पन्त के सम्मुख है। पन्त ने चाँदनी से आलोकित कर अपना पिछला ससार भी पृथ्वी पर ही बसाया था, फलत. आज का ससार भी उन्होने पृथ्वी पर ही पाया। आश्चर्य नही, यदि उनका पार्थिव भाव-जगत् पार्थिव वस्तुजगत् मे परिणत हो गया।

पन्त सदैव दृश्यजगत् के कवि रहे, इसी लिए अदृश्य (अध्यात्म) के प्रति विशेष उत्कण्ठित नही, प्रत्यक्ष रगमच पर जैसे कोई गाता हुआ चलता जाय, बीच-बीच मे कही से कोई नेपथ्य-सकेत पाकर जरा उधर की भी सुनते हुए गा दे, पन्त के कवि की ऐसी ही जीवन-यात्रा रही। उनके लिए तो शून्य आकाश मे भी वायु की एक आनन्द क्रीडा है—

प्राण! तुम लघु-लघु गात!
नील नभ के निकुञ्ज में लीन,
नित्य नीरव, निःसंग नवीन,
निखिल छवि की छवि! तुम छवि-हीन,
अप्सरी-सी अज्ञात!

अधर मर्म्मरयुत, पुलकित अंग,
चूमती चल पद चपल तरंग,
चटकतीं कलियाँ पा भ्रू-भंग,
थिरकते तृण तरु-पात।

इस प्रकार उनकी कविता के लिए 'अखिल जगजीवन हास-विलास' है। विश्व मे जो कुछ 'अदृश्य', 'अस्पृश्य', 'अजात' है, वह भी उन्हे वायु-से स्पर्श-बोध मे 'अधर मर्म्मरयुत, पुलकित अग' की भाँति दृश्य स्पृश्य और सुजात लगता है।

पन्त ने अपने 'दर्शन' मे किसी राजर्षि की ही श्री ग्रहण की, ब्रह्मर्षि की नही। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी वही राजर्षित्व ग्रहण किया था—

वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय
असंख्य बन्धन माँझे महानन्द मय
लभिब मुक्तिर स्वाद।

—रवीन्द्र

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन

—पन्त

× × × ×

एइ वसुधार
मृत्तिकार पात्र खनि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नाना वर्णगन्धमय।

—रवीन्द्र

गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप, मन!

—पन्त

तो क्या हम यह कहे कि रवीन्द्र का या पन्त का कवि मध्य-काल के सगुण कवियो की भाँति जागरूक रहकर जीवन का उपभोग करना चाहता है?

यह एक प्रश्न है कि पन्त एकमात्र गाधीवादी न होकर सम्प्रति मार्क्सवाद-प्रधान क्यो है?

गाधीवाद मे ब्रह्मर्षित्व है। वह निर्गुण पन्थ है, जो उपभोग को नही, त्याग को साधन बनाकर जागरूक रहना चाहता है। उपभोग के बजाय त्याग को साधन बना लेने पर समाज मे वह वैषम्य नही रह जायगा जिसके कारण मार्क्सवाद का उदय

हुआ। गांधीवाद एक स्थायी स्वास्थ्य है, जब कि मार्क्सवाद एक सामयिक उपचार। एक मानसिक स्वास्थ्य का साधक है, दूसरा शारीरिक स्वास्थ्य का। पन्त ने सम्प्रति शारीरिक स्वास्थ्य पर ज़ोर दिया है, और विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ के ही परिवार से वे समाजवाद के कैम्प मे गये है। पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि उनकी कविता राजसी रही है। उनका सौन्दर्योल्लास ऐश्वर्य से निश्चिन्त जीवन पर अवलम्बित था। आज युग की निरवलम्वता मे वे सौन्दर्य-जगत् के उस छिन्न-भिन्न आधार को नवीन सयोजन देने के इच्छुक है। भाव-जगत में जिस प्रकार पन्त ने इतर साहित्य की कला अपनाई, उसी प्रकार वस्तुजगत् मे भारत से भिन्न विचार-धारा भी उन्होने ली। उनमे ऐहिक आकर्षण अधिक होने के कारण वस्तुवादी विचारधारा उन्हे अरुचिकर नही हुई। साथ ही, कविता मे वे पहले भाव के सूक्ष्म जगत् के प्राणी रहे है अत गाधीवाद का अन्त सत्य भी उन्हे अग्राह्य नही—

बापू! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते है रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण

*   *   *   *

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए समाजवाद के प्रति विश्वास रखते हुए भी वे भौतिक दर्शनवादियो को मानो गाधीवाद की ओर से इस प्रकार प्रश्न-सजग भी करते है—

हाड़-मांस का आज बनाओगे तुम मनुज-समाज
हाथ-पॉव संगठित चलावेंगे जगजीवन-काज !
दया-द्रवित हो गये देख दारिद्रय असंख्य जनो का
अब दुहरा दारिद्रय उन्हें दोगे निरुपाय मनो का !
आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?

'मौन-निमन्त्रण' के नेपथ्य-सकेत मे पन्त का जो अन्तरोन्मुख रुझान है, वह अब गान्धीवाद के द्वारा उन्हे अन्तर्दर्शन के लिए भी उकसा रहा है। 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता मे गाधी-जीवन का परिपूर्ण दर्शन है। ज्ञात होता है कि पन्त ने गाधी-वाद को बडी श्रद्धा से समझा है। यदि वे उस श्रद्धा को सार्थक कर सके तो वस्तुजगत् की दार्शनिकता मे गाधीवाद की आध्यात्मिकता का योग हो जाने से पन्त का नवीन काव्य-साहित्य चैतन्य मासलता प्राप्त कर सकता है। 'क्या मेरी आत्मा का चिरधन,' इस प्रश्न का समाधान इमी सुयोग मे है। अभी तो वह मासलता जडीभूत है, वस्तुजगत् की तरह शुष्क।

पन्त का पूर्वकाव्य आज के पन्त को देखकर ऐसा लगता है कि वह मानो किमी वैज्ञानिक के कवि-जीवन का उच्छ्वास हो,

जो अवसर-विशेष पर कभी विश्राम ग्रहण करने के लिए प्रकृति के वस्तुजगत् को छोड़कर उसके भावजगत् में गया था। पन्त के वैज्ञानिक में एक दिन उनका कवि एकच्छत्र था, आज उनके कवि मे उनका वैज्ञानिक प्रधान है। आज पन्त के इस वैज्ञानिक को वस्तुजगत् के दैन्य ककाल मे जीवन की चैतन्य मासलता लाने के लिए पुन. काव्य-कला की आवश्यकता है। साथ ही, उनका नवीन कवि फिर भाव-विरत न होकर अपनी सूक्ष्म चेतना मे स्थायी हो सके, इसके लिए उन्हे अन्त'शक्ति ग्रहण करनी है। रीतिकाल की भावुकता जिस प्रकार जीवन के कठोर सघर्ष मे लुप्त हो गई, उसी प्रकार पन्त के भीतर से पन्त की पिछली कविता भी। सघर्ष को स्वीकार कर उसमे भी कवि को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पन्त मे भक्तिकाल के कवियो जैसा आत्मसाक्षात् चाहिए। उसी आत्मसाक्षात् से बापू इस दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक जगत् मे भी चिरदृढ है।

कवि जब उत्सर्गशील होता है तभी वह सघर्षो के बीच एक आध्यात्मिक दृढता ग्रहण कर पाता है, तभी उसे आत्मसाक्षात् भी होता है। पन्त मे उत्सर्ग नही था, व्यथा की गम्भीरता नही थी, था सुख-सुषमा का चाञ्चल्य—'निज सुख से ही चिर-चञ्चल मन!'

हाँ, पन्त के कवि मे पहले उपभोग नही था, उत्सर्ग नही था, थी एक मुग्धता, एक नयन-सुख!

उनकी कविता जीवन के सघर्ष मे नही, जीवन के प्रहर्ष मे ही ग्राह्य हुई। पन्त से इतर मैथिलीशरण, प्रसाद, माखनलाल, निराला, नवीन, रामकुमार मे उपभोग्यता थी, (यद्यपि इन लोगो की कविता भी राजसी ही है) तथापि, इनमे पाने और खोने का हर्ष-विषाद है, सासारिक आवेग-प्रवेग का उद्वेग है, फलत ये लौकिक जीवन के लिए विदग्धकर हुए।

इधर महादेवी की कविता उत्सर्ग को, निर्वाण को, त्याग को ही लेकर चली पन्त की काव्य-दिशा के अन्तिम छोर पर— मुग्धता और उपभोग्यता की सीमा का अतिक्रमण कर। इसी लिए जब कि महादेवी के कवि को पीछे लौटने की जरूरत नही पडी पन्त को आगे बढकर मुग्धता से उपभोग्यता मे आना पडा।

एक निरीह भावुकता के कवि-देश से उठकर पन्त आज के रागात्मक जगत् मे आये है। जिस नये ससार के रागात्मक उपभोग को वे चाहते है, उसमे भी कभी उपराम होगा, जीवन की बाह्य प्रगति उन्हे (या, उनके नये ससार के किसी अन्य प्रतिनिधि कवि को) एक अन्तप्रगति भी देकर उत्सर्ग की ओर ले जायगी। जिस नये ससार की उपभोग्यता से पन्त कभी उत्सर्ग की ओर जायँगे, उनका वह अज्ञात-भविष्य महादेवी के काव्य का नवविकास होगा। जीवन को सार्थक करने के पन्थ भिन्न-भिन्न है। पन्त प्रवृत्ति-प्रधान है, महादेवी निवृत्ति-प्रधान, पन्त के भावी विकास मे यह भिन्नता नही रह जायगी—

भूरि-भिन्नता में अभिन्नता
छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग
—पन्त

पन्त का पूर्वकवि, कठिन वचपन नहीं, कोमल वचपन लेकर आया था, उसमें माँ की श्री थी, इसी लिए उसकी कोमलता में करुणा का संस्कार भी था। उस संस्कार के विकास के लिए गंगाजल (आर्द्रता) चाहिए था, किन्तु परिस्थितियों के मरुस्थल मे वह असमय ही झुलस गया। आज के दुस्सह क्रन्दन और असह्य पीडन में उस शैशव का युवक-कवि अपनी हँसी-खुशी भूल गया, उसने कहा—

अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन-कम्पन।

साथ ही—

वन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।

किन्तु—

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।

आज के पन्त में जिस दिन सुख-दुख का 'मधुर मिलन' होगा, उसी दिन उनकी सुख-विह्वल कल्पनाशीलता वास्तविकता के मृत्पात्र में अक्षय मधु होकर ढल जायगी। अभी तो उनमें कल्पनाशीलता अलग है, वास्तविकता अलग।

पन्त जी इतने सुकुमार रहे हैं कि वे सुख-सुषमा को भी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण कर सके हैं, भावना (जो कि अनुभूति का एक मूर्त्त मनोरम मॉडल है) वे उसका अतिक्रम कर उसकी चरम सीमा (कल्पना) पर चले गये। जितना ही आगे वे गये उतना ही पीछे लौट भी पड़े, भावना के बजाय वास्तविकता के स्थूल दर्शन में आये। जिस वास्तविकता से विरत होकर वे कभी कल्पनाशील हुए थे, लौटकर उसी वास्तविकता की कल्पना-हीन कुरूपता पर असन्तोषी भी हो गये। फलत 'गुञ्जन' से उनके भीतर एक अन्यमनस्कता व्याप गई---

वन-वन, उपवन---
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन।

'युगान्त' और 'युगवाणी' में पन्त का असन्तोष बहुत स्पष्ट हो गया। पन्त की कविता का भविष्य क्या है, उनकी दृष्टि से उनकी आकांक्षा का क्या स्वरूप होगा, यह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि अभी वे वस्तुजगत् और भावजगत् के बीच एक प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु पन्त के ही शब्दों में---

ये आधी, अति इच्छाएँ
साधन में बाधा-बन्धन,
साधन भी इच्छा ही है,
सम-इच्छा ही रे साधन।

—'गुञ्जन'

इसी प्रकार पन्त को वस्तुजगत् और भावजगत् में भी एक सामञ्जस्य लाना होगा और यह कल्पना तथा वास्तविकता के बीच भावना का साहित्य होगा—वस्तुजगत् के आदर्शवाद के साथ काव्यजगत् के आदर्शवाद का एकीकरण, 'लौकिक और प्राकृतिक कला' का सामञ्जस्य इसी में महादेवी की कविता का भी नवविकास हो सकता है। पन्त की नई रचनाओं में इस एकीकरण, इस सामञ्जस्य की प्रतीक कुछ कविताएँ हैं भी, यथा, 'गुञ्जन' में 'तापसी विश्व की बाला' (चाँदनी), 'युगान्त' में बाँसों का 'झुरमुट' तथा 'युगान्त' और 'युगवाणी' की प्रेम-कविताएँ।

अब तक जो कवि, सौन्दर्य को भी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण करता आया है प्रत्यक्ष जगत् में सौन्दर्य भी जिसके लिए एक भार था, उस कोमलतम कवि को वस्तुजगत् की रूखी-सूखी वेदना का विषम-भार कितना श्री-हीन कर सकता है, यह पन्त की इधर की अधिकांश कविताओं में सूचित है। गुलाब का सुकुमार फूल जब खिलता है तब खूब खिलता है और जब मुरझाता है तब उतना ही शुष्क भी हो जाता है, यद्यपि उसके

मुरझाने मे भी पूर्व-सौन्दर्य की एक रगत वनी रहती है।
पन्त का 'पल्लव' 'गुञ्जन' मे अपने भावाकाश से खिसक पड़ा है,
'युगान्त' से वह वास्तविकता की भूमि पर जा पडा है।
'गुञ्जन' की रचनाएँ 'पल्लव' के वाद होने के कारण उनमे 'पल्लव'
की ताजगी शेष है, किन्तु 'युगान्त' से काव्यकल्पद्रुम सूख गया है।
उस सूखेपन मे भी पन्त के पूर्व काव्य-सौन्दर्य की याद दिलाने-
वाली जो रगत शेष है उसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है।
अव इसके आगे या तो शेष रगत भी न रह जायगी या पन्त के
काव्य का पुनर्जन्म नवीन शोभा मे होगा—

'रूखी री यह डाल वसन वासन्ती लेगी !'

हम विश्वासी है ।

पन्त की इन नई कविताओ को अभी काव्य-कला की दृष्टि
से नही देखा जा सकता, क्योकि कला तो अभी वे दे नहीं रहे है;
अभी तो वे अपने विचारो को पक्तिवद्ध कर स्मृतिवद्ध कर रहे है,
गद्यकाव्य ('गीतगद्य') लिख रहे है। जब काव्य-कला देगे
तब उनके विचार काव्य-चित्र भी उसी प्रकार ग्रहण करेगे जैसे
'कुछ श्रमजीवी डगमग-पग' मे। उसी चित्रकला के विकास मे
पन्त पर भविष्य मे विचार किया जा सकता है। अभी हम
उनके विचारो को मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक अवान्तर की
दृष्टि से ही देख सकते है। यह युग की ट्रेजडी की विकरालता
है कि हमने सम्प्रति अपने वीच से पन्त के कवि को खो दिया

है; पन्त पर असन्तोष के बजाय युग के प्रति सवेदनशील होना होगा।

पन्त इस समय गद्यकार हैं।

ओह, पन्त के 'पल्लव' के 'प्रवेश' के सुन्दर गद्य का इतना खुरदुरा रूप हो सकता है! लगता है, हम एक ककरीली सडक पर चल रहे है। जिस गद्य-भाषा मे पन्त नवीन मानवता के विचार दे रहे है, उन विचारो मे शुष्क मेटर आफ फैक्ट तो है, किन्तु कला का फ्लो आर फोर्स नही। गुप्त, निराला, नवीन, भगवतीचरण के छन्दोबद्ध गद्य अधिक प्रवाहमय और सशक्त है, किन्तु विचारधाराएँ भिन्न होने के कारण, पन्त जो कुछ देना चाहते है, वह ये कवि नही दे पाते। आज की सामाजिक विरूपता को ये कवि उद्घोषित तो करते है, किन्तु उनकी वाणी का दृष्टिकोण मध्ययुग के लोक-निरीक्षण से आगे नही है। पृथ्वी की एक पूर्णपरिक्रमा (अब तक का सम्पूर्ण इतिहास) समाप्त होकर जिस नवीन ससार मे प्रवेश कर रही है, जहाँ हम एक नये सिरे से समाज-सगठन कर मानव-जीवन का नवीन निर्म्माण करना चाहते है, उसे मध्यकालीन समाज का अभ्यस्त कोई कवि ग्रहण ही कैसे करेगा। वह अवसरवादी हो सकता है, युग का व्यक्ति नहीं। फलत मध्यकालीन समाज के कवि पुराने विकृत जगत् मे ही दीवाली की झाड-बुहार देना चाहते है, उस जगत् की सकामकता मे उन्हे उपराम नही हुआ है।

इधर नवीन जगत् के गाद्यिक प्रारम्भ को वर्णमाला देने मे पन्त का कवि जिस 'गीतगद्य' को लेकर चला है, वह भी अपर्याप्त है। वह न तो जनता की वस्तु है, न साहित्यिको की; वह किसी समाजवादी की डायरी का नोट हो सकता है। यदि हम सीधे किसानो और मजदूरो के लिए ही कविता नही लिख रहे है तो हमें उसमे साहित्य-कला बनाये रखनी होगी, ताकि जनता नहीं तो जनता के प्रतिनिधि उसमे स रस ग्रहण कर अपने रूखे-सूखे तथ्यवाद मे मधुर हो सके।

पन्त यदि गद्य-युग को गद्य की ही वाणी देना चाहते है तो वह गीत-गद्य की नही, बल्कि गद्य-गद्य की चीज है, कविता की नही, कहानी की सामग्री है। अतएव, वे अपनी 'पाँच कहानी' के 'पीताम्बर' जैसी कुछ चीजे देकर युग को गद्यवाणी साथ ही नवजात अमूर्त्त-ससार को चित्रवाणी भी दे सकते है। पन्त से हमारा साहित्य कथन नही, चित्रण चाहता है, क्योकि, मूलत वे वक्ता, प्रवचक या प्रचारक नही, बल्कि है एक युग-प्रवर्तक कवि।

(७)

प्रसाद ने जिस छायावाद को चलाया, पन्त ने 'पल्लव' की प्रतिभा द्वारा उसे एक स्वच्छ शरीर तो दे दिया, किन्तु उसे जिस विदग्धता की अपेक्षा थी, वह मिली महादेवी की कविताओं से। पन्त के बारीक रेशमी चित्रपट को पृष्ठिका बनाकर महादेवी ने उत्सर्गशील हृदय को प्राणान्वित किया। प्रसाद ने अपने

नाटकों में गीतिकाव्य का जो अस्तित्व दिया था, महादेवी ने उसे नवीन चेतना दी। प्रसाद का काव्य ऐहिक अधिक है, जब कि महादेवी का काव्य दार्शनिक अनुभूतियों से अधिक अनुप्राणित। प्रसाद में रीतिकाल के शृंगार की रसिकता शेष है; महादेवी में भक्तिकाल की मीरा की आत्मा। महादेवी का गीतिकाव्य विश्वात्मा की आराधना का नूतन संकीर्त्तन है। इस संकीर्त्तन में करुणा ने करुणाकर की आरती उतारी है।

प्रसाद ने ही पहले-पहल छायावाद को वेदना दी, किन्तु वह वेदना अपने प्रति अतृप्त और असन्तुष्ट है। किन्तु महादेवी ने वेदना में ही पूर्ण सन्तुष्टि, जीवन की पूर्ण उज्ज्वलता पाई। प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' की वह देवसेना अपने को महादेवी के गीतों में ही जीवित रख सकती है, जो कहती है—

'आह, वेदना मिली बिदाई!'

अथवा—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सब क्षणिक सुखों का अन्त है। सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।"

जीवन की अनित्यता में भी जीवन के प्रति एक दार्शनिक अनुरक्ति बनाये रखनेवालों के लिए महादेवी के गीत पाथेय हैं। बुद्ध का अविनश्वर-अनीश्वर यदि सगुण रूप धारण करे और जीवन की अनित्यता करुणा का अमृत रूप पा जाय तो इनके द्वारा जिस पार्थिवता-हीन पार्थिव माधुर्य भाव की सृष्टि हो

सकती है, वही महादेवी की कविताओं में है। वह मूर्त्तिमती करुणा ट्रेजडी के अन्धकार में ही, ज्वलित व्यथा के दीपक लिये हुए अभीष्ट को खोजते-खोजते समष्टि को पा जाने की आकांक्षा रखती है यों—

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख के अवगुण्ठन से,
मैं तुम्हें खोजने के मिस
परिचित हो लूं कण-कण से।

दुख के माध्यम से समष्टि तक पहुँचने की बुद्ध की यह फिलासफी ही महादेवी की कविता का केन्द्र-विन्दु है।

(८)

निराला और रामकुमार में भी पार्थिव करुणा की अभिव्यक्ति की विदग्ध-क्षमता है, किन्तु करुणा की दार्शनिक परिणति उनकी नहीं, महादेवी की कला है। निराला के पास एक गम्भीर दार्शनिक हृदय है, इसी लिए गुप्त, माखनलाल और नवीन के उस काव्य-ग्रुप में जो कि आवेग को ही प्रधान बनाकर चलता है, निराला ने भाषा के शरीर और पद-योजना की धड़कन में अन्तर्गम्भीर हृदय भी स्थापित किया। हाँ, यह चिन्तनीय है कि वे हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की ओर ही बढते चले गये, फलत कला के चमत्कार में पड़ गये। काव्य का यह ग्रुप कला का चमत्कार लेकर नहीं चल सकता, वल्कि अपनी स्वाभाविक

अभिव्यक्ति मे ही सफलता प्राप्त कर सकता है। कला-चमत्कार के लिए जिस प्राञ्जल कल्पनाशीलता की आवश्यकता है, उसका इन कवियो मे अभाव है। कल्पना को जब हम मस्तिष्क से छूना चाहते है तब वह विश्री हो जाती है, किन्तु जब हम हृदय का स्पर्श देते है तब वही सुश्री भी हो जाती है। भावना की तरह कल्पना भी हृदय की ही निधि है। गुप्त और निराला प्रत्यक्ष अनुभवो के ही विदग्ध कवि हो सकते है। कल्पना की कला तो एकमात्र पन्त की ही चीज रही है, इसी लिए पन्त जहाँ कल्पक है वहाँ वे चूडान्त कवि है, किन्तु वे जहाँ रियलिस्ट होना चाहते है वहाँ उनका कवि नही रह जाता।

निराला जी की भाँति ही गुप्त जी भी जहाँ कही कला के चमत्कार मे पड गये अथवा कल्पना की कला देने लगे, वहाँ वे भी विरस हो गये, जैसे, 'साकेत' के नवम सर्ग मे उर्मिला के विरहोद्गारो मे। किन्तु जहाँ उनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक है, वहाँ वह मर्म्मस्पर्शिनी हो गई है; यथा 'साकेत' के द्वादश सर्ग मे लक्ष्मण और उर्मिला का विरह-दग्ध मिलन। निराला जी भी जहाँ कही स्वाभाविक है, वहाँ खूब है, जहाँ मस्तिष्क-प्रधान या बुद्धिमान् है वहाँ परिश्रमी और दुरूह है। इधर पन्त जी भी मस्तिष्क के क्षेत्र मे आकर निराला इतना दुरूह तो नही हुए, किन्तु निराला जितनी श्री भी न दे सके, ठीक उसी प्रकार जैसे कल्पनाशीलता मे पन्त जितनी श्री निराला न दे सके।

(१)

कविता मे निराला और पन्त के बीच के एक व्यक्तित्व हो सकते थे पण्डित इलाचन्द्र जोशी। बहुत पहले से कविताएँ लिखते हुए भी वे प्रकाश्य रूप से काव्यक्षेत्र मे निराला और पन्त के बाद आये है। 'विजनवती' द्वारा हम उनके कवित्व से परिचित हो सकते है। जोशी जी को जब हम निराला और पन्त के बीच का व्यक्तित्व कहते है तब हमारे सामने दो काव्य-गुण आते है—ओज और लालित्य (माधुर्य)। इन दोनो काव्यगुणो का जोशी जी की कविता मे एक सम्मिश्रण हुआ है। निराला मे प्रखर पौरुष है, पन्त मे प्रसन्न शैशव, जोशी जी मे विदग्ध यौवन।

पन्त की तरह ही इस पर्वतीय कवि को भी निसर्ग-शोभा ने अलकृत किया है, यद्यपि वे उतने प्राजल नही है, गद्य-सस्कार ने उनके लालित्य को सम्पूर्णत मधुर नही बना दिया है, तथापि उनकी कविता मे छायावाद की सादगी की एक मनोहरता है। ऐसा लगता है, मानो निराला का ओज पन्त के लालित्य से निखर सकता हो।

गृहस्थो की तरह ही जोशी जी ने जीवन मे कुछ पौराणिक विश्वास बसा लिये है—मृत्यु, पुनर्जन्म, सघर्ष का वरण और करुण चेतना की अनन्त यात्रा मे एक मरणोत्तर आशावाद। गृहस्थो की तरह ही वे सुख-दुख से हर्षित-विमर्षित होते है,

जीवन-वन मे आनेवाले वसन्त और पतझड के कोमल-कठिन स्पर्श मे सृष्टि की तरह। वैज्ञानिकों की भाँति वे उसके प्रति सचिन्त्य और प्रयत्नशील नही, कारण वे गृहस्थो की तरह ही जीवन का सञ्चालक किसी मानवेतर शक्ति को पाते है, वह उन्हे हुलसाती है तो हुलस पडते है, झुलसाती है तो झुलस पडते है। जहाँ वे आनन्दित होते है वहाँ वैष्णव है, ललित है, जहाँ तप्त, वहाँ शैव है। यही द्वित्व व्यक्तित्व उनके कवित्व में है।

उनकी कविताओ मे एक आध्यात्मिक प्रणय-रूपक भी है। ससार मे उनका कवि एक प्रवासी की तरह है, जन्म-जन्मान्तर मे प्रवास करता हुआ चलता है, उनकी 'ज्योत्स्ना विहर रही है करुणाशीला'—जैसी आइडियल जीवन-प्रतिमा जो कि अन्धकार मे ज्योत्स्ना की भाँति ही स्निग्ध-करुण चिदानन्द का आभास देती है, उन्हे उनकी अनन्त यात्रा में आशा की शुभ्र ज्योति प्रदान करती है। प्रवासी होने के कारण ही एक आइडियल अतीत, जो किसी युग मे, किसी जीवन मे मधुर हो सका है,—वह उनकी यात्रा का पाथेय है। यह प्रवास उनके कवि को पार्थिव जगत् मे भी किसी बटोही को देखकर सम्पूर्ण सुख-दुख में जो उसका एक मनोवाञ्छित मनोरम ससार निहित है, उस ससार के प्रति लालायित कर जाता है—

मेरे इस निर्जन निकुञ्ज में
आओ, आओ परदेसी!

नये सिकोरे में शीतल जल
तुम पी जाओ परदेसी !

परदेसीपन जोशी जी की कविता की हावी जान पडती है, त्रिछोह का छोह उसका आनन्द ।

गार्हस्थिक मनोभावना के कवि होने के कारण उनके शब्दो और अभिव्यक्तियो में यथास्थान एक वैसी ही स्वाभाविकता भी है। उनका शब्द-चयन, उनका शैली-विन्यास, ठेठ छायावाद का सूचक है। यदि उनका कवि समाप्त नही हो गया है तो 'विजनवती' के बाद उनसे किसी अन्य काव्यकृति की आशा की जाती है ।

(१०)

मुक्तक और प्रबन्धकाव्य के बाद, छायावाद की कविता इस समय गीतिकाव्य की दिशा मे है। महादेवी के गीत नव-युवको मे लोकप्रिय तो है ही, साथ ही, 'नवीन' और रामकुमार ने भी गीतिकाव्य को सगीत दिया है। अन्तत निराला का गीत-स्कूल अपने कला-भार के कारण अग्रसर नही हुआ, इधर पन्त ने खडीबोली को परिपूर्ण लालित्य देकर कविता मे तात्कालिक विश्राम ले लिया। फलत छायावाद के साहित्य में गीतिकाव्य का प्राधान्य है, जिसकी त्रिवेणी उक्त कवि-कण्ठो मे नि सृत होकर भाव-काव्य को जीवन दे रही है। गीतिकाव्य

की इस त्रिपथगा मे गोमुखी महादेवी जी ही है । 'नीरजा' के बाद से शेष दोनो कवियो का गीतिकाव्य प्रारम्भ होता है। महादेवी के उद्गम तक पहुँचने के पहले हमे 'नवीन' की सीमा पार करनी पडेगी, उसके बाद राकुमार की सीमा, क्योकि ये सीमाएँ उसी मूलस्रोत के पार्थिव तट है । इसी लिए इनकी टेक और शैली मे थोडा-बहुत सादृश्य मिल जाता है, यद्यपि जीवन की धाराएँ भिन्न-भिन्न है ।

'नवीन' अपने विविध रचना-क्रम से पन्त और निराला से भी सीनियर है, किन्तु गीति-रचना में जूनियर ।

'नवीन' शुरू से ही शरीर-प्रधान कवि रहे है। शृगार और राष्ट्रीयता ये दो विरोधी रस लेकर वे चले है, किन्तु बाहर मे दो विरोधी होते हुए भी दोनो वस्तुत एक ही शारीरिकता की अभिव्यक्ति है। वीरगाथा-काल के कवि जिस प्रकार एक ओर रण-सग्राम करते थे, दूसरी ओर शृगार की अभ्यर्थना भी, उसी प्रकार अपनी शारीरिक अभिव्यक्ति मे 'नवीन' की कृतियाँ है । कही-कही यह अभिव्यक्ति आवश्यकता से अधिक उत्कट हो गई है। कबीर ने जिस अक्खडता से सासारिक जीवन के प्रति विरक्ति प्रकट की है, उसी अक्खडता से नवीन ने शारीरिक जीवन के प्रति आसक्ति । नवयुवको मे वह उन्मादक-सी हो जाती है। सब मिलाकर 'नवीन' माखनलाल-स्कूल के एक अतिरजित यौवन है। यही कवि अपने गीतिकाव्य मे कुछ

कोमल सरस होकर भी आया है, मानो कठिन तरु मे मर्म्मर-सगीत बजा हो।

रामकुमार का गीतिकाव्य 'नवीन' के गीतिकाव्य से अपेक्षाकृत स्वच्छ सुघर है। उनमे पन्त और महादेवी के बीच का व्यक्तित्व है। पन्त का सौन्दर्य-सस्कार और महादेवी का आत्मबोध अपनी रुचियो, आकाक्षाओ और अनुभूतियो के अनुरूप हृदयगम कर रामकुमार ने अपने गीतिकाव्य की सृष्टि की है। रामकुमार-द्वारा पन्त के सौदर्य-बोध को महादेवी का कुछ चिन्तन एक हलके सकेत मे मिल जाता है। सौदर्य को चाहकर भी रामकुमार क्षणभगुरता को भूले नही है।

रामकुमार ने जीवन मे नश्वरता को देखकर भी नश्वरता पर कभी विश्वास नही किया, जब कि महादेवी के लिए नश्वरता एक विश्वसनीय विकास है, अनन्त प्रगति की एक विश्वगति। इस दृष्टिभेद का कारण यह है कि रामकुमार ने जीवन को गणित करके, खण्ड-खण्ड करके देखा है, जब कि महादेवी ने अगणित करके, समष्टि से शृखलित करके। इसी लिए, रामकुमार मे पार्थिवता के प्रति एक साकाक्ष मोह है, जब कि महादेवी का कवि पार्थिवता मे एक अपार्थिव सकेत ग्रहण करने के लिए ही विशेष विकल है। जब कि रामकुमार का मुग्धहृदय कसक उठता है—

देखो वह मुरझा गया फूल

तव महादेवी का कवि निरुद्वेग होकर कहता है—

'विकसते मुरझाने को फूल'।

नश्वरता में सृष्टि का जो गतिशील सत्य है, महादेवी उसी के प्रति जागरूक है—

अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

रामकुमार के सामने तो यह प्रश्न है 'नश्वर स्वर मे कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत?' नश्वरता ने उन्हे अभिभूत कर लिया है। पार्थिव जीवन के प्रति उन्हे इतनी माया-ममता है कि नश्वरता उनके सम्मुख सौन्दर्य के एक 'अभिशाप' के रूप मे ही आती है, जब कि महादेवी के सम्मुख अनन्त का एक वरदान होकर। निदान, रामकुमार के चिन्तन में रूप प्रधान है, महादेवी के चिन्तन मे प्रेम।

अनुभूतियो मे प्रकारान्तर होते हुए भी दोनो ने जीवन मे करुणा को प्रधानता दी है। महादेवी की करुणा मे एक परोक्ष अनुभूति है, रामकुमार की करुणा मे एक बोलता हुआ प्रत्यक्ष शरीर। ट्रेजडी के पार्थिव युग को जीवन देने के लिए आज के पन्त के 'ऋडफार्म' मे जो कुछ है, उसे रामकुमार करुणा का साकार स्वर दे सकते है। निराला की भाँति ही वे भी पार्थिव करुणा मे सक्षम है। अपने पार्थिव स्केल पर वे महादेवी की अपेक्षा करुणा को अधिक उभार सकते है। परन्तु महादेवी की

करुणा अन्तसलिला की धारा-सी है जो बाहर कम भीतर अधिक प्रत्यक्ष है; यह वह करुणा है जिससे पार्थिवता को अनल जीवन मिलता है।

रामकुमार के बाद, हमारे साहित्य मे छायावाद के जो जूनियर कवि आ रहे हैं, वे छायावाद के परिपूर्ण विकास के छोटे-छोटे कण हैं, तुहिन-बिन्दु हैं। वे भावजगत् के लिए आकर्षक हैं, यद्यपि इनमे बहुत-से मृगमरीचिवत् भी हैं।

(११)

आज खडीबोली की कविता मध्ययुग की पार्थिवता से निकलकर छायावाद तक पहुँची है, अब छायावाद से निकलकर वह फिर पार्थिवता की ओर जा रही है। अन्तर यह है कि तब की पार्थिवता अमीर और गरीब के बीच कम-बेश होकर बँटी हुई थी, अब वह समग्र समाज के बीच सन्तुलित होने जा रही है। इसकी जरूरत भी है। आज के पीड़ित भू का अपार क्रन्दन, अपार उच्छ्वास तोपो की गडगडाहट मे नही भुलाया जा सकता। मुट्ठी भर मनुष्य नामधारी दानव पृथ्वी के साथ खुल-खेल रहे हैं, उनके अत्याचारों का आकूलव्यापी समुद्र विकराल दैत्य-सा मुँह फैलाये हुए पृथ्वी को ग्रस लेना चाहता है। कवि रामकुमार के शब्दो मे—

वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास;

जिसमें रोदन है कभी, या कि,

रोदन के स्वर में अट्टहास।

यह आध्यात्मिक रूप से निस्सार विश्व का जितना नश्वर चित्र है उतना ही पार्थिव रूप से आज के व्यथित जगत् का विक्रान्त चित्र भी। यदि इस दुर्दान्त दृश्य का शीघ्र अन्त न होगा तो अत्याचारो का समुद्र ही असख्य पीडितों का अश्रुसिन्धु बन जायगा और आज की बची-खुची पृथ्वी उसमे लुप्त हो जायगी। यह प्रलय-काल है। आज मनुष्य के जीवित रहने का, पृथ्वी के डूबते हुए अस्तित्व की रक्षा का प्रलयकर प्रश्न है। समाजवाद यदि इस प्रश्न को हल कर सके तो इससे अधिक खुशी की बात और क्या हो सकती है। लेकिन ध्यान रखना होगा कि पृथ्वी को बचाने का अर्थ है—मनुष्य की चेतना का विकास करना। जो बाह्य सामाजिक शासन आज की विषम पार्थिवता को सन्तुलित कर सकता है, वह होगा समाजवाद, किन्तु मनुष्य अपने मनोविकारो से फिर वैषम्य की ओर न चला जाय, इसके लिए जिस आन्तरिक शासन की आवश्यकता होगी, वह होगा गाधीवाद। इस प्रकार आज के ससार मे नवोदित समाजवाद और चिरन्तन गाधीवाद के अगागि होने की आवश्यकता है, माया और ब्रह्म की तरह। समाजवाद के बिना हम पगु हो जायेंगे; गाधीवाद के बिना पशु। प्रगतिशीलता केवल चलते रहने की क्रिया का नाम नही है, चलने को तो पशु

भी चलते हैं। मनुष्य मनुष्य होकर चल सके, इसके लिए गांधीवाद की आत्मा चाहिए। गांधीवाद ही रहस्यवाद है, अपनी कलात्मक अनुभूतियों में छायावाद उसी का एक सबजेक्टिव स्टेज भी है।

समाजवाद समाज के रुग्ण शरीर में जो क्रांति चाहता है, गांधीवाद उसकी अवज्ञा नहीं करता, वह नहीं चाहता कि समाज अपनी रुग्णता के असह्य पीडन में छटपटाये। वह तो अहिंसक होते हुए भी यन्त्रणा-विदीर्ण गौशिशु को विष का इन्जेक्शन देकर मुक्ति दे सकता है। इतना कठोर है वह अपनी करुणा में ! किन्तु उसका निवेदन यह है कि आप समाज को जो नवीन शरीर देना चाहते हैं, वह केवल स्नेहहीन दीपक की भाँति हाड-मांस का शरीर मात्र होगा या उसमें कुछ अन्तर्ज्योति भी होगी ?

मनुष्य जब-जब अचेतन होने लगता है, तब-तब संसार में गांधीवाद आता है, कभी बुद्ध के स्वरूप में, कभी ईसा के रूप में। इसी प्रकार काव्य जब-जब मैटर आफ फैक्ट होने लगता है तब-तब छायावाद का उदय होता रहता है। हम अपने साहित्य में वीरगाथा-काल से अब तक इस क्रम को स्पष्ट देख सकते हैं। वीरगाथा-काल में जो हिन्दी-कविता कभी शोणित में डूबी हुई तलवारों की नोक से लिखी गई, वही कविता त्राहि-त्राहि कर भक्त कवियों की शरण में भी गई।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल के कवियों ने जब कविता को एकमात्र वनिता बना दिया, मुगल ऐश्वर्य को सौन्दर्य मे घनीभूत कर दिया, तब भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग ने उसे वनिता से जनता के बीच ला उपस्थित किया। हाँ, मुगल-काल के बाद की जनता का ससार बदल गया। समुद्र पार से जो सर टामस रो आया था वह अपने व्यापारिक निवेदन में न केवल ब्रिटिश शासन का गुपचुप पैगाम ले आया था, बल्कि हिमालय के हिम-शिखरो को ससार की नवीन सामुद्रिक सीमाओ का परिचय भी दे गया था। फलत. आज का पार्थिव भारत फिर विशाल-भारत हो गया है। कौन जाने वह फिर किसी दिन अपने बुद्ध के आध्यात्मिक स्वरूप का भी विस्तार न करेगा!

हाँ, तो द्विवेदी-युग ने मध्ययुग के बाद का ससार पाया था। नये युग के नये भौतिक सत्यो को उसने अपने अविकच प्रयासो से स्पर्श करना प्रारम्भ किया था। उसका साहित्य और उसका समाज भी वैसा ही अविकच हुआ। परिपक्व विकास मे हमारे साहित्य और समाज में आगया छायावाद और गाधीवाद। यह विकास वीरगाथा-काल के बाद भक्तिकाल की भाँति है। किन्तु भक्तिकाल के बाद जिस प्रकार रीतिकाल की कविता आई उसी प्रकार छायावाद के बाद अब समाजवादी यथार्थवाद भी आ रहा है। हाँ, उसका मैटर आफ फैक्ट न केवल मध्यकाल के, बल्कि द्विवेदी-युग के भी बाद के संसार

का है, इसलिए वह अपने वस्तुजगत् मे द्विवेदी-युग से भिन्न है, किन्तु काव्यकला मे उसी प्रकार अपरिपक्व है, जिस प्रकार द्विवेदी-युग के प्रारम्भ की कविताएँ। द्विवेदी-युग के मैटर आफ फैक्ट ने जैसे छायावाद का विकास ग्रहण किया, कौन कहे उसी प्रकार समाजवादी यथार्थवाद भी फिर किसी छायावाद को न ग्रहण करेगा! ब्रजभाषा के पतझड़ मे भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग गद्य-युग होकर आये थे। इसके बाद छायावाद-द्वारा पुन का-ययुग आया। इसके बाद एक और नूतन गद्ययुग आ रहा है। इस गद्य-युग के बाद फिर क्या काव्य-युग का उदय न होगा? छायावाद के आविर्भाव के लिए जिस प्रकार द्विवेदी-युग मे कुछ बैकग्राउण्ड बने, उसी प्रकार समाजवाद के द्वारा भी छायावाद के लिए नये बैकग्राउण्ड बनेगे।

नवीन जगत् मे छायावाद का जब फिर उत्कर्ष होगा तब गीतिकाव्य के भीतर से ही वह अपनी धरोहर को सँजोयेगा, क्योंकि आज के प्रलयकाल मे छायावाद अपने को उसी मे सुरक्षित कर रहा है। यो भी कोई भी नवीन प्रभात सगीत से ही अपना प्रारम्भ करता है।

छायावाद केवल एक काव्यकला नही है। जहाँ तक साहित्यिक टेकनिक से उसका सम्बन्ध है वहाँ तक वह कला है और जहाँ दार्शनिक अनुभूतियो से उसका सम्बन्ध है वहाँ वह एक प्राण है, एक सत्य है। अतएव छायावाद, काव्य की केवल

एक अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि इसके ऊपर एक श्रेष्ठ अभिव्यक्त भी है। 'छाया' शब्द यदि उसकी कला के स्वरूप (अभिव्यक्ति) को सूचित करता है तो 'वाद' उसके अन्तःप्रकाश (अभिव्यक्त) को। छाया की तरह उसके कलारूप मे परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसका प्रकाश अक्षुण्ण रहता है। उस प्रकाश के विकीर्ण होने का जगत् बदल सकता है, उसके छायाचित्र बदल सकते है, किन्तु उसकी चित्रात्मा नये-नये टेकनिको में भी अक्षय रहेगी।

हिन्दी-गीतिकाव्य

(१)

हिन्दी-गीतिकाव्य का इतिहास उस सरिता का इतिहास है, जो भरपूर लहराकर बीच में ही सूख गई। शृगार-काल में जो सामाजिक मृग-मरुस्थल मिला, उसी मे समाकर बीच-बीच मे वह अपने पूर्व अस्तित्व का आर्द्र परिचय कवित्त और सवैयो मे देती रही। आधुनिक युग मे वह फिर एक स्वतन्त्र झिरझिरी के रूप मे फूट पडी, मानो उसे अनुकूल भूमि मिल गई हो।

आज तो प्राय सभी नवयुवक गीत ही लिख रहे है। सच तो यह है कि अब के छायावाद ने अपनी एक विशेष प्रगति गीतो की ओर कर ली है। इसका कारण यह है कि या तो यह कविता का युग नही है, या, यदि युग कविता को प्यार कर सकता है तो गीतो मे, जहाँ वह कर्म्म-श्रान्त विहग की तरह किसी डाल पर कुछ क्षण चहक ले। इस युग में भी मध्यकाल की ही भाँति सौन्दर्य्य-लालसा और विरह-क्रन्दन है, इसका कारण युग की वह विकट ट्रेजडी है जिसने पुञ्जीभूत होकर सन्तप्त मनुष्यो के मन मे कोमलता की प्यास और भी तीव्रता से जगा दी है, मानो वैज्ञानिक युग का शुष्क कण्ठ सजल सगीत चाहता हो। कदाचित् यह युग गीतो की दिशा मे उतनी शताब्दी तक आगे जाय

जितनी शताब्दियों तक वैष्णव-गीतिकाव्य के बाद से उसकी प्रगति रिक्त थी।

वर्तमान युग में जिस प्रकार राजनीतिक अकाल फैला हुआ है, उसी प्रकार अतीत के ऐतिहासिक युग मे नैतिक अकाल पड़ने पर गीतिकाव्य का अमृत-उत्स फुहराया था। गत युग के गीतिकवि मरे नही; उन्होंने अपने को रूपान्तरित कर दिया। आज वे उसी रूप में इसलिए नही आये कि युग का जीवित व्यक्तित्व न ग्रहण करने पर बीसवी शताब्दी का पास छिन जाता।

युग ने कविता को समाप्त कर दिया, इस कथन में सन्देह जान पडता है, क्योंकि घोर वैज्ञानिक लौह-हाथो ने भी अपनी जीवन-तृष्णा को सगीत के परदो मे छिपाकर वाद्य-यन्त्रो के सभ्य रूप में उपस्थित कर दिया है। विज्ञान काव्य की भाषा नही जानता, इसी लिए उसने 'मेघदूत', 'हसदूत' या 'पवनदूत' न भेजकर सगीत के क्षेत्र में भी 'यन्त्रदूत' ही भेजा है। वह यान्त्रिक जडता मानो कवि से चेतना की भीख माँग रही हो।

(२)

शृगार-काल से गीतिकाव्य का अवरोध, भारतीय जीवन की एक भिन्न प्रगति का सूचक है। मुगल-शासन एक भिन्न जीवन लेकर आया था। उससे चिरप्रवाहित हिन्दू-जीवन का स्रोत बदल गया। दूरदर्शी अकबर ने हिन्दू और मुसलमानो के

मेल मे एक नवीन सामाजिक जीवन को जन्म दिया। इस नवीन जीवन में हिन्दू-धर्म ने पूजा-गृहो मे ही स्थान पाया, घरेलू जीवन मे इस्लामी लौकिकता का प्रचार हुआ। रसिकता की बाढ़ आगई। वैष्णव-गीतिकाव्य मे भक्तो की जो साधना थी उसके बजाय शृगारिक कविताओ में विशेषत गृहस्थो की प्रणय-आराधना प्रकट हुई।

शृगारिक कवियो ने गीतिकाव्य को अपना जीवन नही दिया। इसका कारण, गीतिकाव्य मे भक्तो की वह गीताञ्जलि थी जो भगवान् के सिवा और किसी को अर्पित नही की जा सकती थी। गीतिकाव्य धर्मपरायणो का सकीर्तन था। सभी अपने 'प्रेयर' मे भगवान् को गीताञ्जलि देते है। भारतीयो के लिए सगीत-कला आत्मकल्याण का साधन थी। महर्षि सामवेद की ऋचाएँ गाकर परमात्मा को रिझाया करते थे। उनके वशज देव-मन्दिरों मे ही सगीत-समारोह करते थे। शृगारिक हिन्दू कवि गीतो की इस पवित्रता को समझते थे, इसी लिए उन्होने उसे दूषित नही किया। दूसरी तरफ उन्हे नये सामाजिक जीवन को अङ्गीकृत करना अनिवार्य हो गया। पूर्वजो की गीति-क्षुधा शृगारिक कवियो की आन्तरिक भूख में भी थी किन्तु नवीन शासन मे वे धर्म्म-सकट मे पड गये। एक ओर उन्हे गीतिकाव्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना था, दूसरी ओर उन्हे अपने हृदय की साँस लेनी थी। फलत.

गीतिकाव्य को उन्होने देवता का निम्मल्यि बने रहने दिया, साथ ही उस रसिकता को जो शाही दरबारो मे सगीत के रूप मे प्रकट हो रही थी, अपनी कविताओ मे ययाशक्ति हिन्दू-मर्य्यादा से बाहर नही जाने दिया। उनके समय मे गीतिकाव्य ओर प्रबन्ध-काव्य—काव्यकला के ये दो रूप उपस्थित थे। शृगारिक कवि, प्रबन्ध-काव्य की ओर बढ सकते थे, क्योकि 'मानस' मे गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के जीवन-क्षेत्रो के लिए रस-स्रोत उद्गत कर दिया था। केशव ने 'रामचन्द्रिका' और पद्माकर ने अपने 'राम-रसायन'-द्वारा उस ओर बढने का प्रयत्न भी किया था, किन्तु उनसे पूर्ववर्ती शृङ्गारिक कवियो ने ही अपने मुक्तक पदो से अपनी असमर्थता दिखला दी थी कि प्रबन्ध-काव्य उनकी प्रतिभा का क्षेत्र नही। उनका क्षेत्र गीतिकाव्य का ही क्षेत्र था क्योकि इस दिशा मे इतनी अधिक साहित्य-सृष्टि हो चुकी थी कि वह उनके लिए अनभ्यस्त नही हो सकती थी।

सामाजिक आदर्श उपस्थित करने के लिए प्रबन्ध-काव्य का जन्म होता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन मे हिन्दुओ के लिए आदर्श नही था। शृगारिक कवि तत्कालीन वर्तमान की ही प्रजा थे। फलत अतीत की सर्वश्रेष्ठ प्रजा गोस्वामी जी के हाथो ही वह आदर्श बदा था।

तुलसी की भाँति प्रबन्ध-काव्य का नवीन प्रशस्त क्षेत्र ग्रहण करने के लिए जिस विपुल आत्मसाधना की आवश्यकता थी,

वह शृगारिको मे न थी। यदि होती तो गीतिकाव्य का क्षेत्र ही ग्रहण कर लेने मे शृगारिको को क्यो सकोच होता? विशद भक्ति के समान ही विशद प्रतिभा का जीवन न प्राप्त होने के कारण ही वे तुलसी की प्रवन्ध-शैली की ओर भी न वढ सके। उन्होने गीतिकाव्य और प्रवन्ध-काव्य के वीच का मध्यपथ कवित्त और सवैयो मे ग्रहण किया। कवित्त और सवैया, भक्तिमय गीतिकाव्य के ही शृङ्गारिक रूपान्तर है। शृङ्गारिक कवियो की प्रतिभा गीतिकाव्य की प्रतिभा थी। यदि धर्म्म-मर्य्यादावश उन्हे गीतिकाव्य को न छोडना पडता तो हिन्दी-गीतिकाव्य का इतिहास वर्तमान युग तक अविच्छिन्न चला आता और आज उसका पुनर्जन्म नही, वल्कि दीर्घ जीवन ही वहता हुआ दीख पडता।

शृगारिको के इस क्षेत्र से हट जाने पर, शाही दरवार 'गीतिकाव्य' के लिए 'कोर्ट आफ वार्ड्स' वना। गीतिकाव्य दरवारों के सरक्षण मे जाकर 'गायन' हो गया। धीरे-धीरे गीतो मे 'शिव-पार्वती' के स्थान मे 'राधा-कृष्ण' के नाम आये और फिर उन्हे भी हटाकर 'सैयाँ-पिया' ही विशेष रूप से रह गये। आधुनिक युग मे जव हमारा नवीन साहित्य वालिग हुआ, तव वह 'कोर्ट आफ वार्ड्स' के हाथो मे पडे हुए गीतिकाव्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने उत्तराधिकार मे निर्गुण और सगुण की भक्ति ली, तथा कवित्त और सवैयो मे सौन्दर्य और प्रेम की छिनी

हुई भूख-प्यास भी। 'साधारण जनता' ने मुगल सामाजिक जीवन के अवशेष-संगीत-स्वरूप सैयाँ और पिया को भी अपनाया। गनीमत यह कि 'सैयाँ-पिया' सिनेमा के चित्रपट पर ही अधिक दर्शन देते है, साहित्य के हृत्पट पर कम। इधर सिनेमा के गीतो मे भी कुछ उन्नति हुई है। उनमे साधारण सुबोध भाषा मे भाव-सौन्दर्य्य भी उसी अनुपात मे रहते है जितने कि वे भारी न पड जायँ। फिर भी भाषा को शुद्धता की गुजाइश है। सहज हिन्दी मे उर्दू कवियो-द्वारा जो गीत लिखे जा रहे है वे सुबोध, मार्म्मिक और सुसाहित्यिक है, सिनेमा के गीतों के लिए आदर्श हो सकते है।

(३)

आधुनिक युग मे गीतिकाव्य ने नाटकों मे प्रथम स्थान बनाया। यदि मध्ययुग मे गद्य का विस्तार हो सका होता तो शृगारिक कवियों को गीतिकाव्य की अपनी प्रसुप्त आत्मा को उसी मे जगाने का अवसर मिलता, प्रबन्ध-काव्य की प्रतिभा के अभाव में भी अपने भावो के लिए उन्हे एक संगीत-पथ मिल जाता, यदि उनमें नाटकीय प्रतिभा होती। किन्तु प्रबन्ध-काव्यों की ओर उनका झुकाव न होना, इस प्रतिभा का अभाव सूचित करता है।

सामूहिक चेतना के कारण गद्य का गौरव आधुनिक युग मे बढा। भारतेन्दु ने नाटको-द्वारा आधुनिक युग का स्वागत किया।

गतयुग की आत्मा के स्मृति-स्वरुप उनके नाटको मे सगीत ने स्थान पाया। जिस सामूहिक चेतना को लेकर भारतेन्दु खडे हुए उसी के अनुरुप उनका सगीत था, उसमे साहित्यिक छटा नही थी। भारतेन्दु को उसे साहित्यिक छटा देने का ध्यान भी नही था, क्योकि मध्यकाल की शृगार-परम्परा मे वे अपने मुक्तक पदो से ही परितृप्त थे।

हिन्दी नाटको को प्रारम्भत, सस्कृत-नाटयकला का आधार मिला। युग के अग्रसर होने के साथ-साथ ज्यो-ज्यो हमारे साहित्य का आधुनिक सम्पर्क बढता गया, त्यो-त्यो हमारी साहित्य-कला अपनी प्राचीन परिधि से आगे बढने लगी। 'प्रसाद' ने नाटयकला को भारतेन्दु-युग से आगे बढाया। प्रारम्भ मे वे भी अपने नाटको मे भारतेन्दु की सस्कृत नाटयशैली से प्रेरित थे, यथा—'सज्जन', 'विशाख' और 'राज्यश्री' के प्रथम सस्करणो मे। किन्तु बीसवी शताब्दी की साहित्यिक चेतना ने उनके नाटको का स्वरूप बहुत कुछ बदल दिया। यद्यपि उन्होने अपने कथानक पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू-काल मे लिये, जिसके द्वारा उनकी सास्कृतिक रुचि का परिचय मिलता है, किन्तु नाट्य-कला को उन्होने कुछ नूतन अवश्य बनाया—चरित्रो को नवीन मनोवैज्ञानिक प्रकाश मे रखकर। उन्होने भारत के प्राचीन आदर्श और वर्तमान जीवन की सहानुभूतिशील वास्त-विकता का मिश्रण किया। वे कवि थे, स्वभावत उनके नाटको

मे गीतिकाव्य ने विशेष स्थान पाया । 'करुणालय' नामक गीतिनाट्य उनकी इसी भावात्मक रुचि का द्योतक था, मानो प्रत्यक्ष जीवन के चित्रपट पर वे परोक्ष मानव-कल्पनाओ को प्रधानता देते थे। यथार्थवाद को वे प्रचलित आदर्शवाद द्वारा नही बल्कि मनुष्य के उन काव्य-क्षणो से सार्थक करते थे, जहाँ मनुष्य का बिना किसी नैतिक दबाव के नैसर्गिक आत्मद्रवण होता है। उनके नाटको से ज्ञात होता है कि कदाचित् उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य मे यह काव्य-वृत्ति वर्त्तमान है, सभी मनुष्यो मे सगीत-प्रेम इसी कोमल स्वाभाविकता का सूचक है। 'प्रसाद' 'का नाटकीय मनोविज्ञान मनुष्य के इसी काव्य-पक्ष (कवि-हृदय) को जगाता है।

'प्रसाद' ने जिस प्रकार छायावाद-द्वारा हिन्दी-कविता का स्टैण्डर्ड ऊपर उठाया, उसी प्रकार नाटकीय गीतो का भी। उनके प्रारम्भिक नाटको मे गीतिकाव्य का कोई नवीन एव गभीर दर्शन नही मिलता। कारण, उस समय तक एक अन्तर्मुख सुरुचि रखते हुए भी वे अपना कलासन्धान नही कर सके थे। उनके सामने पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो का रगमच था, किन्तु 'प्रसाद' जी सर्वथा उसी ओर नही बढे। आगे उन्होने अपने नाटको मे सगीत को साहित्यिक महत्त्व भी यथासभव प्रदान किया। उसे गायन-मात्र न रखकर काव्य बनाया। गीति-काव्य ने अपना विकास-मार्ग 'प्रसाद' के नाटको मे बनाया और

सगीत ने पारसी नाटकों मे। 'प्रसाद' के गीतो मे साहित्यिक सुरुचि है, पारसी नाटको मे मुगल-दरबार की सगीत-रुचि। इसी पार्थक्य की भूमि में हिन्दी के नाटक और संगीत दो भिन्न दिशाओ मे चले।

इधर 'प्रसाद' का नाटकीय अनुष्ठान नये नवयुवको-द्वारा अँगरेजी नाट्यकला को आत्मसात् करने मे जागरूक हुआ, उधर पारसी रगमच सवाक् चित्रपटो मे विलीन हो गया। जनता मे बगाल की भाँति कलात्मक चेतना न होने के कारण, साहित्यिक नाटक स्टेज पर शोभित नही हो सके और पारसी नाटको में साहित्यिक चेतना न होने के कारण वे कला मे स्थान नही बना सके। इस प्रकार एक नाट्यदल केवल साहित्यको को आहार देता रहा, दूसरा जनता को। जनता और साहित्यिको के बीच के इस पार्थक्य को दूर करना आवश्यक था, क्योकि इसके बिना साहित्यिक नाटको के लिए कभी सार्वजनिक रगमच बनाने का अवसर आयेगा ही नही। इस दिशा मे श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने नाटको-द्वारा एक सत्प्रयत्न उपस्थित किया। स्वय अभिनेता होने के कारण उन्हे रगमच का बोध है। उन्होने नाटको मे साहित्यिक छटा को सरल बनाकर रगमच की आवश्यकताओ को एक कला-सुषमा दी। 'प्रसाद' जी की दुर्बोधता को गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने नाटको मे निखार दिया। उनके नाटक साहित्यिक नाट्यकला और पारसी नाट्यकला के मध्यवर्ती है।

'प्रसाद' के नाटको मे गीतिकाव्य, जो कि छायावाद का प्राय मुक्तक काव्य ही बन गया था, उसे गोविन्दवल्लभ के नाटकों और सुमित्रानन्दन की 'ज्योत्स्ना' तथा उससे पूर्व स्फुट-प्रकाशित उनके कुछ गीतो से सगीत-साधना भी मिली।

(४)

अब तक छायावाद ने चार परिणति प्राप्त की है—(१) 'प्रसाद' की काव्य-प्रतिभा (छायावाद की आरम्भिका), (२) माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि का मुक्तक विकास, (३) गीतिकाव्य, (४) पन्त का 'युगान्त'-चिन्तन।

सम्प्रति गीतिकाव्य की दिशा मे दो स्कूल प्रचलित हुए—(१) महादेवी-स्कूल, (२) 'निराला'-स्कूल।

इनके अतिरिक्त, सर्वश्री रामकुमार वर्मा और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी गीतिरचना की। 'कुमार' और 'नवीन' के गीत, भावो मे अपना कवि-व्यक्तित्व रखते हुए, महादेवी-स्कूल के साथ है। 'निराला'-स्कूल मे 'निराला' जी ही गण्यमान्य है।

नई हिन्दी-कविता के प्रवाह से पूर्व, द्विवेदी-युग के कवियो मे भी गीतिकाव्य का स्रोत बहता रहा। उस युग के कवियो मे गुप्त जी के 'साकेत', 'यशोधरा', 'झनकार' और 'स्वदेश-सगीत' के गीत; ठाकुर साहब की सद्य रचना 'कादम्बिनी' के कतिपय

गीत तथा शिवाधार पाण्डेय और मुकुटधर पाण्डेय के मुक्तकगीत सहृदय-सवेद्य है। मध्ययुग मे गीतिकाव्य का जो स्रोत सामाजिक परिस्थितिवश अवरुद्ध हो गया था, आधुनिक युग मे वह नवीन चेतना द्वारा पुनर्भूत हुआ। भक्ति ने पहले भगवान् को गीताञ्जलि दी थी, अब प्रेम ने मनुष्य को भी भावाञ्जलि दी। गीतो की परिधि विस्तीर्ण हो गई। द्विवेदी-युग मे गीतिकाव्य का जो स्रोत प्रच्छन्न था, वह छायावाद-युग मे विशेष रूप से प्रत्यक्ष हुआ। छायावाद के विकास-काल मे ही गुप्त जी और ठाकुर साहब के गीत भावो की उस अन्तर्वीणा मे भी झङ्कृत हुए जो नवीन कविता के कला-बोध मे अनुप्राणित है।

हाँ, तो नाटको-द्वारा नवीन हिन्दी-गीतिकाव्य के रचयिता 'प्रसाद' जी है किन्तु उसके सगीत-स्रष्टा पन्त, निराला और महादेवी। गुप्त जी की 'यशोधरा', ठाकुर साहब की 'कादम्बिनी' तथा प्रसाद जी की 'लहर' और 'कामायनी' के गीतो-द्वारा द्विवेदी-युग के गीतिकाव्य का, गीतिकाव्य के नवप्रस्रवित प्रवाह के साथ सम्मिलन हुआ।

गुप्त जी, प्रसाद जी, महादेवी जी, रामकुमार जी, नवीन जी के गीतिकाव्य, सगीत की प्रचलित देसी प्रणाली पर अवस्थित है। सूर, तुलसी और मीरा की गीतशैली से उनमे विशेष विभेद नहीं। किन्तु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न सङ्गीत-कला भी उपस्थित की और उन्होने हिन्दी-गीतिकाव्य मे सङ्गीत,

के नवीन प्रयत्न भी उमी प्रकार उपस्थित किये, जिस प्रकार छायावाद की कविता को द्विवेदी-युग की प्रगति से पृथक् । वगाल में टैगोर-स्कूल ने जिस प्रकार गीतिकाव्य में सङ्गीत के नवीन प्रयोग उपस्थित किये, उसी प्रकार हिन्दी-गीतिकाव्य में पन्त और निराला ने भी ।

'ज्योत्स्ना' के नाटचगीतो के वाद 'युगान्त' से (मूलत 'गुञ्जन' मे) पन्त की काव्यधारा वदल गई; वह प्रवन्ध-काव्य की सामूहिक चेतना की भूमि पर भी, छायावाद की ही कला मे, मुक्तक-रूप से अग्रसर हुई ।

निदान, गीतिकाव्य के क्षेत्र मे निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए ।

'निराला' के अधिकाश गीतो मे उनकी कला, अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है, उतनी अभिव्यक्त के प्रति तन्मय नही । उनका काव्य-पाण्डित्य उनके कवि को सहज नही रहने देता । जहाँ उनमे सहज-स्वाभाविक तन्मयता है, वहाँ उनकी कला अपनी अनुभूति से मार्म्मिक भी हो गई है ।

महादेवी के गीत अपनी सहज गतिशीलता, आत्मविस्मृत भाव-विदग्धता और सगीत मे टेक के वरावर कहानी की-सी स्पन्दनशीलता के कारण सजीव है और उन्होने ही हाल के नवयुवको को गीतो की भाव-भाषा दी है ।

सर्वश्री उदयशकर भट्ट, रामशकर शुक्ल 'हृदय', वच्चन, तारा पाण्डेय, नरेन्द्र, हरेन्द्र देवनारायण, आरसी, केसरी, गगाप्रसाद पाण्डेय, शिवमगलसिह 'सुमन' और रामचन्द्र द्विवेदी 'प्रदीप' अच्छे सगीत-कवि है। इनके अतिरिक्त भी पत्र-पत्रिकाओ मे कभी कभी वडी सुन्दर काव्यात्माओ का दर्शन हो जाता है।

(५)

गद्य और कविता मे जितना अन्तर है, उतना ही कविता और सगीत मे। गद्य में ज्ञान को जितना प्रस्तार दिया जा सकता है, उतना कविता मे नही। इसी लिए कविता ज्ञान को लेकर नही, भाव को लेकर चलती है। भाव—ज्ञान का आसव है, उसका रस-रूप है। इसी प्रकार गद्य से लेकर सगीत तक ज्ञान क्रमश सूक्ष्म होता जाता है और सगीत मे आकर वह सूक्ष्मतम ही नही, 'लय' हो जाता है। लय का अभिप्राय विलीन अथवा सगीत की भाषा मे स्वर-मात्र। गद्य का गाढापन काव्य मे, काव्य का गाढापन सगीत मे तरलतम हो जाता है।

कविता मे जव तक भावो का सगीत (रसात्मकता) नही रहता, तव तक वह पद्य रहती है, भाव-सगीत लेकर वह पद्य से कविता हो जाती है। और जव कविता मे सगीत ही भाव प्रधान हो जाता है, तव वह कविता गायन-मात्र रह जाती है। कविता मे सगीत भाव का सहायक रहता है, सगीत मे

भाव गीत का। गीतिकाव्य बनता है गायन (सगीत) और कविता (भाव) के योग से। कविता में भाव प्रधान होकर रसोद्रेक करता है; संगीत में स्वर प्रधान होकर। सगीत का रसोद्रेक विशेष क्षणो का विशेष प्रभाव है। उन क्षणो को चिरञ्जीव कर देने या स्थायी बना देने के लिए गीत के साथ काव्य का भावात्मक सहयोग अपेक्षित रहता है।

गीतिकाव्य मे स्वर और भाव का यही सहयोग सगठित हो जाता है, सगीत और कविता का एकाकीपन इसमें पूर्णता प्राप्त करता है। गीतिकाव्य मे सगीत, काव्य का अनुवर्ती होकर भी अधिक शक्तिशाली हो जाता है, मानो अमात्य होकर सम्राट् से अधिक क्षमताशाली। यदि केवल गायन ही अभीप्ट हो तो निरे स-र-ग-म के सस्वर आलाप से ही जादू बिखर सकता है। किन्तु जब हम स-र-ग-म को सार्थक करते हैं तब मानो अनिवार्य्यत: सगीत के साथ काव्य को सम्बद्ध करते है। गीतिकाव्य सगीत की सार्थकता की चरम सीमा है।

हमारे यहाँ गीतिकाव्य एक विशेष लक्ष्य के लिए प्रस्तुत है। जब वेदान्त के गहन सूत्र अपनी जटिलता के कारण मनीषियो के ही प्रीतिभोज रह गये, तब ब्रह्मानन्द-आस्वाद को ससार तक भी पहुँचाने के लिए कथा-प्रवचन का प्रवर्त्तन हुआ। कथा-प्रवचन सरल-सुबोध होते हुए भी उपदेशमय थे। मानव-मन की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वह जीवन के तत्त्वो को जितना

स्वतःस्फूर्त होकर हृदयंगम करता है, उतना उपदेश या आदेश से नही। उपदेश या आदेश के प्रति उसके मन में श्रद्धा हो सकती है किन्तु उसकी ममता अपने रागात्मक अनुभवो से उपलब्ध रस मे अधिक रहती है। इसी लिए कहानी की अपेक्षा कविता, प्रवचन की अपेक्षा सकीर्त्तन, ज्ञान की अपेक्षा गान सरसतम होकर उसके मन पर अधिक प्रभाव डालते है। जिस ब्रह्मानन्द-आस्वाद के लिए प्रवचन-प्रवर्त्तन हुआ था, उसी के लिए सकीर्त्तन का भी स्रोत बहा। सकीर्त्तन मे गीतिकाव्य सचमुच ब्रह्मानन्द-सहोदर बन गया।

(६)

रविबाबू ने अपनी एक यात्रा-कथा मे लिखा है—'अँगरेजी गान जन-समूह मे गाने योग्य है, और हम लोगो का गान निर्जन एकान्त मे।' गीतिकाव्य मे भी मानव-जीवन का यही एकान्त-क्षण रहता है। सकीर्त्तन मे जब समवेत कण्ठ से एक गान गुञ्जरित होता है, तब ऐसा लगता है मानो अनेक एकान्तो के मौन ने एक स्वर मे अपने को निवेदित कर दिया है।

गीतिकाव्य मनुष्य के सब्जेक्टिव को जगाता है। 'विजन ! तुम्हारा आज बजे इकतारा'—कवि जब अपने इस विजन को झकृत करता है, तब वह गीतिकाव्य की स्वर-लहरियो मे समीर की तरह तैरने लगता है। छायावाद की मुक्तक कविताएँ भी एकान्त के इसी तन्मय स्वर से प्राणान्वित है।

गीतिकाव्य का क्षेत्र यद्यपि संगीतात्मक कविता तक ही सीमित नहीं क्योंकि जहाँ भाव है वहाँ स्वत: संगीत है, किन्तु 'गीतिकाव्य' अपने स्वतन्त्र अर्थ में काव्य-कला और संगीत-कला का संयोजक है। इसी लिए वैष्णव कवियों की पदावलियों को तो हम गीतिकाव्य कहते हैं और शृंगारिक कवियों के कवित्त-सवैयों को मुक्तक-काव्य-मात्र। अँगरेजी में जिसे लीरिक कविता कहते हैं, नि:सन्देह प्रथम-प्रथम वह किसी वाद्य-यन्त्र के स्वर में उद्गत हुई होगी और जिस रस का संचार उस वाद्यगान से हुआ होगा उसी रस-संचार के कारण सभी सब्जेक्टिव कविताएँ लीरिकल हो गई। इस प्रकार लीरिक कविता भावों के एक विशेष व्यक्तित्व को सूचित करती है। गेय-गीत (song) इस व्यक्तित्व को एक विधि-विहित संगीत भी प्रदान करता है। गीतिकाव्य में गेय-गीत उसी प्रकार अन्तर्भुक्त हो जाता है, जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्य में गीतिकाव्य का भी अन्तर्हित होना सम्भाव्य है।

हमारे यहाँ गीतिकाव्य गेय-गीतों में ही प्रकट हुआ था और उसे 'पद' संज्ञा प्राप्त हुई थी। किन्तु अपने नवीन विस्तार में गीतिकाव्य के अन्तर्गत काव्यमय और संगीतमय दोनों ही प्रकार के काव्य आ जाते हैं। इस प्रकार शृंगारिकों और छायावादियों की मुक्तक कविताएँ भी इसमें स्थान पा जाती हैं। हाँ, गीतिकाव्य के स्वरूप-परिचय के लिए हमें यह ध्यान रखना होगा कि इसका भाव-क्षेत्र प्रबन्ध-काव्य से भिन्न है।

लीरिक कविता के वज़न पर हमारे यहाँ भी एक शब्द निर्मित है—'वेणु-काव्य।' यह शब्द सस्कृति का सूचक है, क्योकि जिस नटवर ने वेणु वजाया था, सर्वप्रथम उसी के आराधको ने हिन्दी-गीतिकाव्य को जन्म दिया।

जैसा कि रविबाबू ने कहा है—'अँगरेज़ी गान जन-समूह के गाने योग्य है।' कारण, वहाँ जीवन के जिस रग-मच पर गान गाया जाता है, उस रग-मच का दृश्यपट है दैनिक समाज। हमारे यहाँ उसका दृश्यपट है अनादि प्रकृति। तारागणो के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि मे और सूर्य्योज्ज्वल प्रभात मे हमारे राग गाये जाते है।

प्राचीन आर्य्य-सभ्यता की एक धारा भारत में, दूसरी धारा योरप मे वही है। भारत मे आर्य्य-सभ्यता अपने मौलिक (आध्यात्मिक) रूप मे है, योरप मे परवर्ती (भौतिक) रूप मे। दोनो के साहित्य और समाज मे भी सभ्यता का यही पार्थक्य है। रविबाबू के शब्दो मे—'यूरोपियनो के आधिभौतिक व्यवहार से उनका सगीत प्राय एकमेक हो गया है। उनके नाना प्रकार के जीवन व्यवहारो के समान उनके गायन-सम्बन्धी विषय भी नाना प्रकार के है, परन्तु हमारे यहाँ यह वात नही है। यदि हम चाहे जिस विषय के गान वनाकर अपनी राग-रागिनियो मे गाने लग जायँ, तो रागो का प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा और सगीत की दशा हास्यजनक हो जायगी। इसका

कारण यह है कि हमारी राग-रागिनियाँ व्यवहारातीत है। नित्य नैमित्तिक व्यवहार उन्हें सार-हीन मालूम होते है। इसी लिए वे कारुण्य अथवा विरक्ति जैसी उदात्त भावनाओ को जन्म देती है। उनका कार्य आत्मा के अव्यक्त, अज्ञेय और दुर्भेद्य रहस्य का चित्र तैयार करना है।' इसके प्रतिकूल 'जब-जब यूरोपियन गायन से मनोवृत्तियाँ चचल हो उठती थी, तब-तब मै मन ही मन कहने लगता था, यह सगीत अद्भुत-रस-प्रचुर है, यह जीवन की क्षणभगुरता को गायन मे जमा रहा है!'

भारतीय गीतिकाव्य यदि आज भी रहस्योन्मुख (रहस्यवादी) है तो इसका कारण उसकी मौलिक सस्कृति है। अन्तत· परवर्ती सभ्यता ने भी अपने साम्राज्य-विस्तार के फलस्वरूप इस देश के सामाजिक जीवन मे स्थान बनाया, मानो योरप पुन अपनी आदिभूमि में आ बसा। यही से वह गया था और यही विदेशी होकर आया! भूलते-भटकते वह गया था, भूलते-भटकते ही यहाँ आया। इतने दिनो के साहचर्य्य मे भारत ने उस प्रत्यागत को भी अपनाया, साहित्य, सगीत और समाज ने उसके आदान को भी स्वीकार किया।

कवि का आत्मजगत्

(१)

कविता—इस शब्द का नाम मैंने पहले-पहल कदाचित् सन् १८ मे सुना था। तब, देहाती मदरसे के तीसरे या चौथे दर्जे मे पढता था। बालक था। ऐसा जान पडता है कि मनुष्य के मन के भीतर भी कोई एक स्प्रिंग होती है, वह उसे छुटपन से ही घडी की सुई की तरह उस अभीष्ट की ओर उन्मुख रखती है जिस ससार मे वह जन्मजात सस्कारो से जाने को होता है। नही तो देहात के उस ठेठ वातावरण मे जहाँ कोई साहित्य-समाज न था, कोई कला-रसिक न था, कोई पथ-प्रदर्शक न था, एकाएक कविता की ओर मेरा झुकाव हो जाना और किस तरह सम्भव था।

हाँ तो, कविता-शब्द का नाम मैंने पहले-पहल अपने उसी देहाती मदरसे मे ही पढा-सुना। वह देहाती मदरसा अब भी उसी तरह चल रहा है, उसके पार्श्व मे शोभित वह पुराना वृक्ष आज भी विद्यमान है, जिसकी शाखाओ को पकडकर अवकाश के समय हम इस तरह झूला करते थे, मानो हमने पिता की ही बाँह गह ली हो। शिशुगण अब भी उसके साथ खेलते होंगे, लेकिन उसे शायद यह याद न होगा कि एक दिन इन्ही-जैसा

एक और बालक भी उसके अपार्थिव आकाश में कविता के हिंडोले में अज्ञात भाव से झूल गया है।

तो मेरे उस शैशव में हिन्दी-कविता कहाँ थी? तब छायावाद तो बहुत दूर की कल्पना था. मैंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली का नाम भी न सुना था। मेरे लिए तो सब पद्य, पद्य थे; चाहे ब्रजभाषा में रहे हों, चाहे खड़ीबोली में। गद्य और पद्य का रूपात्मक अन्तर क्या है, तब मैं यह नहीं जानता था। कोई बतलानेवाला भी तो न था। बातचीत की तरह सपाटे के साथ, जिस मैटर को हम बिलकुल सीधे पढ़ जाते, उसे समझते थे गद्य; और जिसे पढ़ने में जबान का उलटफेर देना पड़ता, उसे समझते थे पद्य। अपनी स्कूल-बुक में एक ओर मैं पं० प्रताप-नारायण मिश्र की पंक्तियाँ गुनगुनाता था, दूसरी ओर बाबू मैथिलीशरण गुप्त की। पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु-युग के एक प्रतीक थे तो बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग के अन्यतम प्रतीक। इन दोनों युगों के बीच पं० श्रीधर पाठक अपनी ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली-द्वारा एक कड़ी बन गये थे।

बचपन में पढ़ी हुई कविताओं-द्वारा मैं जो अतीत का यह चित्र देख रहा हूँ उसमें एक और विशेष मिलता है, अर्थात् सन् १८ तक आज की खड़ीबोली की रूप-रेखा बन चुकी थी. साथ ही उन रचनाकारों का भी उदय हो रहा था जो

खडीबोली की रूप-रेखा को अपने कला-स्पर्श से वकिम छटा देने की साधना कर रहे थे। मैंने अपने उसी स्कूल-वुक मे परिहास-रसिक स्व० प० बदरीनाथ भट्ट की ये पक्तियाँ भी पढी थी—

अन्त्यानुप्रास-हीन अथवा अतुकान्त कविता—

बाजीगर ने लिये कोयले आठ-दस

उन्हें पीसकर घोला एक गिलास में;

सुजर्नासह थे वहाँ तमाशा देखते।

आज ये पक्तियाँ मुझे पूरी नही याद रही हैं, किन्तु इनमे एक पक्ति आज भी ध्यान खीचती है—'अन्त्यानुप्रास-हीन अथवा अतुकान्त कविता'। जान पडता है कि जिस समय यह कविता (!) पढी थी, उस समय के पूर्व, खडीबोली मे अतुकान्त कविता का भी श्रीगणेश हो गया था। अर्थात्, खडीबोली खडी हो गई थी और वह अपना अग-सञ्चालन करने जा रही थी, कला की मुरकियो मे उसने अपनी पहली अगभगी अतुकान्त कविता से की। कहा जाता है कि अतुकान्त के उद्भावक 'प्रसाद' जी थे। किन्तु 'प्रसाद' के पहले भी अतुकान्त-कविता सस्कृत-छन्दो-द्वारा की गई है। प्रसाद की नवीनता यह कि उन्होने अतुकान्त मे मात्रिक छन्दो का उपयोग किया। पन्त ने भी 'ग्रन्थि' मे मात्रिक छन्द को ही अपनाया। इसके वाद गुप्त जी और निराला जी ने अतुकान्त को विशेष उत्कर्ष दिया। गुप्त जी ने घनाक्षरी छन्द का एक टुकडा लेकर मिताक्षरी नाम मे 'मेघनाद-वध' मे प्रयोग

किया। निराला जी ने भी कुछ घनाक्षरी के ही प्रवाह पर अपने अतुकान्त मुक्तछन्द की रचना की, जिसमे छन्द का नियम न होते हुए भी वाक्य-प्रवाह से ही छन्द का निर्देश मिलता है। आगे चलकर सियारामशरण जी और प्रसाद जी ने इसी वाक्य-प्रवाह-पूर्ण अतुकान्त को अपनाया। प्रसाद जी ने अपने 'लहर' मे 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'रूप की छाया' शीर्षक कविताओ मे पूर्णत 'निराला'-शैली का अनुसरण किया, किन्तु सियाराम जी ने उससे कुछ भिन्न होकर।

अतुकान्त के बाद खडीबोली की कविता ने अपने विकास-क्रम से, पद-सगीत, शब्द-सौन्दर्य और भाव-व्यञ्जना मे उन्नति की। इस उन्नति तक पहुँचने में खडीबोली की कविता को न जाने कितना उपहास सहना पडा होगा।

एक दिन जैसे ब्रजभाषी खडीबोली को हँसते थे, उसी प्रकार आगे चलकर खडीबोली के पुराने हिमायती ही खडीबोली की नवीन मुद्राओ, कविता की नवीन कलाभिव्यक्तियो पर हँसने लगे। किन्तु खडीबोली अपनी काव्य-दिशा में सुदृढ आत्मनिष्ठा से आगे ही बढती चली गई, निदान हमारी तरुण-पीढी ने उसे छायावाद के रूप मे पाकर उसका स्वागत किया।

(२)

इस समय छायावाद विवाद की उस मञ्जिल पर है जहाँ पर हमारी राष्ट्रीय महासभा काग्रेस। काग्रेस से लिबरलो का भी

असन्तोष है, समाजवादियो का भी। एक दल अति-प्रतिगामी है, दूसरा अति-प्रगतिशील। आज साहित्य मे भी ये प्रतिगामी और प्रगतिशील शक्तियाँ छायावाद का मूल्य नही आँक पाती।

कांग्रेस को लिबरलो ने ही जन्म दिया, ठीक उसी प्रकार जैसे खड़ीबोली को द्विवेदी-युग ने। कांग्रेस के भीतर स्वतन्त्रता की आकाक्षा उसी प्रकार जगी, जैसे हमारे काव्य मे भावो और कला की। गाधी-युग की कांग्रेस ने देश को आत्मनिरीक्षण दिया, छायावाद ने खड़ीबोली की कविता को। हिन्दी-कविता ने कांग्रेस के उद्देश्यो को भी अपनाया। उसने उसके राष्ट्रीय नारो का साथ दिया, चर्खे की गूँज मे अपना भी कण्ठ मिलाया, कर्घे के ताने-बाने मे अपने लिए भी एक राष्ट्रीय परिधान बुन लिया। इस तरह कांग्रेस के साथ हिन्दी-कविता जन-समाज के सम्पर्क मे भी आगई, उसमे हाड-मास का एक पीडित देश भी बोल उठा। कविता के भीतर जो स्वाभाविक सहृदयता हो सकती है, उसने इस प्रकार बाह्यजगत् के सुख-दुख को भी स्पर्श करने मे कृपणता नही की। इस प्रकार छायावाद वस्तुजगत् मे लिबरलों से आगे होकर भी समाजवादियो की अतिवास्तविकता के समीप भी नही। किसी भी पीडन मे सवेदना के लिए सन्नद्ध रहकर छायावाद गृहस्थो की भाँति मुख्यत अपने आन्तरिक जगत् मे ही मग्न है। हाँ, वस्तुजगत् के लिए वह सहयोगी हो सकता है, अधिनायक नही।

मनुष्य का एक अन्तर्जगत् भी है, जिसे आप अन्त-र्लोक या सब्जेक्टिव ससार कह सकते हैं। शहीद हो जानेवाले हाड़-मास के शरीर के भीतर भी एक हृदय रोता-हँसता रहता है जो केवल जन-समाज से ही नहीं, बल्कि संपूर्ण सृष्टि से न जाने अपने मन का क्या-क्या उपादान ग्रहण करता है, न जाने किन-किन भावभगियों मे सृष्टि को अपने मे और अपने को सृष्टि मे क्या-क्या अभिव्यक्तियाँ देने को उत्कण्ठित रहता है। खादी के परिधान से तो बाह्यशरीर आच्छादित हो सकता है, किन्तु अन्त शरीर (हृदय) न तो देशी कर्घे का वस्त्र ग्रहण कर पाता है न विलायती मिलो का, दोनो ही उसके लिए भारी हैं। आगरे का ताजमहल सुरक्षा के लिए किसी बड़े गिलाफ से ढाँका जा सकता है, किन्तु उसके उस सूक्ष्म वायु-मण्डल को जिसमे हृदय की साँस उमड-घुमड रही है, हम किस आच्छादन से वेष्टित कर सकते हैं? वह तो एक और ही ससार है जहाँ की चेतना का कलावरण ग्रहण करने में मनुष्य को अपने सीमित समाज से आगे जाकर विधाता की असीम सृष्टि का आभारी होना पड़ता है। कवि जब कहता है—

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारो की जाली

अथवा—

बसावें एक नया संसार
जहाँ सपने हो पहरेदार

तव उस ससार को कर्घो और मिलो मे बाँध रखना सम्भव नही। उसे आपको कुछ कन्सेशन देना होगा।

कवि ने आपके समाज में जन्म लिया है, उसने आपसे भाषा पाई है, वह आपका आभारी होकर इतना कर सकता है कि आपकी भाषा मे अपने जी की वात कुछ-कुछ बुझा सके। फिर भी यदि आप नही बूझ पाते है तो यह कवि का दोष नही, बल्कि आपके ही भीतर कविता का अभाव है। कवि तो इतिवृत्त नही देता, जिससे कि आप साद्यन्त सुन-समझकर अपने जीवन के रुटीन वर्क को चालू कर सके। वह तो केवल सकेत देता है। आपने उसे जो भाषा दी है वह उसके लिए अपर्य्याप्त है। आप दृश्य जगत् के लिए अपनी भाषा को भले ही पूर्ण वना ले किन्तु अदृश्य जगत् के लिए वह सदैव अपूर्ण रहेगी। अपनी भाषा मे आप विज्ञान को पूर्णता दे सकते है, किन्तु जिसकी पूर्णता की सीमा नही है, जो असीम और अनुभव-जन्य है, उस अव्यक्त को व्यक्त होने के लिए कभी भी पूर्ण भाषा नही प्राप्त हो सकती। उसे सकेतो मे ही समझना होगा, उसके लिए स्वय भी कवि होना पडेगा।

एक शिशु पृथ्वी पर आता है, वह सर्वथा नूतन अतिथि यहाँ आने से पहले अपना भी एक ससार लेकर आता है, वह कुछ

कहना चाहता है—कह नही पाता, वह किलक कर, कलप कर रह जाता है। आप इतने सयाने होने पर भी उसके अभिप्राय को ग्रहण नही कर पाते, फिर भी उस पर न्योछावर हो-हो जाते है। आपका मुग्ध-मूक हृदय भीतर ही भीतर उसके अभिप्राय को ग्रहण करता है। वह अभिप्राय क्या है, आपकी भाषा उसे कह नही पाती, फिर भी आपकी निर्वाक् मूकता में एक रस बरस जाता है, आप बलि-बलि जाते है। वही शिशु धीरे-धीरे बडा होता है। आप कहते है—मेरा लल्ला अब सयाना हो गया! क्योकि, वह आपकी भाषा मे बोलने लगा है, आप उसकी बाते समझने लगे है। किन्तु आपका लल्ला अपना जो अज्ञात ससार छोड आया है, उपवन के फूलो की तरह न जाने कितने भावों का बलिदान चढा आया है, उसके उस ससार से, उसके उस भाव-जगत् से आप तो अपरिचित ही रह गये, साथ ही वह भी रिक्त हो गया है। छायावाद का कवि उसी शिशु-सी मूकता और रिक्तता को आपकी भाषा मे वाणी और रस देने का प्रयत्न करता है। वह आपकी दुनिया मे आकर भी अपनी दुनिया को भूल न सका। कभी-कभी वह सोलहो आना आपकी भाषा मे ही आपके देश-प्रेम, आपके अछूतोद्धार, आपके खादी-प्रचार तथा आपके नाना राजनीतिक और सामाजिक असन्तोषो के स्वर में स्वर भी मिला देता है, तब आप उसकी इन मैटर-ऑफ़-फ़ैक्ट बातों को समझ लेते है। किन्तु जब वह आपकी दुनिया

से ज़रा विश्राम लेकर अपने एकान्त में, अपने तन्मय क्षणो में, कुछ गाता है तब आप उसे समझने मे अनुदार क्यो हो जाते है? भूल क्यो जाते है कि उसकी अपनी भी व्यथा-कथा है; वह कोरा यन्त्र नही, बल्कि यन्त्रणा-विदग्ध एक प्राणी भी है। आह, उसके सबजेक्टिव समार के सुख-दुख को कौन ग्रहण करेगा? उसके घायल हृदय को कौन सहलायेगा? मीरा ने तो आकुल-व्याकुल होकर कह दिया था—

दरद की मारी बन-बन डोलूं
वैद मिला नहि कोय;
मीरा की तब पीर मिटैगी
वैद संवलिया होय।

प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व

प्रभात में देखते हैं—पूरब से प्रकाश का एक गोला निकलता है, चिड़ियाँ चहचहा उठती हैं, कृषक हल जोतने लगते हैं। फिर ? पश्चिम में वह गोला धीरे-धीरे डूब जाता है, अँधेरा हो जाता है, चिडियाँ बसेरो मे लौट पडती हैं, कृषक बैलों को साथ लिये हलो को कधे पर रखे हुए अपनी-अपनी झोपडियो को चल देते हैं।

यदि किसी रचना में इतनी ही बात लिख दी जाय तो वह कविता नही, कोरी तुकबन्दी बन जायेगी। कविता और तुकबन्दी मे अन्तर यह है कि हम ससार में जो कुछ देखते हैं, तुकबन्दी उसका वर्णन भूगोल की तरह कर देती है। इस तरह का वर्णन तो स्कूल के मास्टर साहब भी भली भाँति कर सकते है। तो क्या वे भी कवि कहलायेगे ? नही, कवि तो उसे कहते हैं जो कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को अपनी ही तरह सुख-दुख-पूर्ण समझे, अपनी ही तरह उनमें भी हास और अश्रु देखे; अपनी ही तरह सृष्टि की प्रत्येक लीला मे जीवन का अनुभव करे, क्योकि सबमें एक ही परमचेतन (परमात्मा) की ज्योति छिपी हुई है। वही परमचेतन इस सृष्टि का नियन्ता

है, यह सृष्टि ही उसकी कविता है। हमारे यहाँ उस परमचेतन के लिए कहा गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः

अर्थात् वही मनीषी, व्यापक, स्वयम्भू और कवि है।

हमारा कवि, ससार मे उसी कविर्मनीषी का प्रतिनिधि है। इसी लिए वह जड़-चेतन मे छिपी हुई उस एक ही परमचेतन की ज्योति को पहचानकर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति का सम्मिलन करा देता है। तव, उसे यह सारा ससार एक ही प्रकाश मे चमकता हुआ दिखाई पडता है। कमल की पँखुड़ियो की तरह भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हुए भी, वह इस सम्पूर्ण विश्व को सच्चिदानन्द-पद्मरूप मे एक ही परिपूर्ण शतदल की तरह खिला हुआ देखता है। वह जव प्रभात मे वालारुण को उदय होते हुए देखता है तब उसे ऐसा जान पड़ता है, मानो वह भी उसी की तरह धीरे-धीरे उदित हो रहा है।

जैसे प्रभात मे जगकर हम अपने अपने कर्म-पथ पर चल पडते है, उसी भाँति सूर्य्य भी सुनहले रथ पर बैठकर अपने कर्म्मक्षेत्र की ओर वढा जा रहा है।

कवि को भूगोल और खगोल मे कोई भिन्नता नही दिखाई पड़ती। दोनो ही स्थानो मे वह एक ही जीवन-चक्र को घूमते हुए देखता है, उसे ऐसा जान पडता है कि एक ही सूत्रधार (परमात्मा) की उँगलियो के सकेत पर प्रकृति भिन्न-भिन्न पात्रों-

द्वारा एक ही महानाटक खेल रही है। इसी दृष्टि से, कवि जब किसी उपवन मे एक खिले हुए गुलाब को देखता है, तो वह साधारण लोगो की तरह केवल यह नही देखता कि वह एक फूल-मात्र है, बल्कि, वह तो उस प्यारे फूल को भी हमारी-तुम्हारी तरह ही एक सजीव प्राणी समझता है। जैसे हम अपनी माँ की कोमल स्नेह-गोद मे हँसते-खेलते है, वैसे ही वह भी प्रकृति की सरल गोद मे हँसता-खेलता और लहराता है। उसका सैलानी साथी पवन, उसे दूर-दूर देशो की अनोखी अनोखी बाते सुनाता है, जिन्हे सुनकर कभी तो वह विस्मित और स्तब्ध हो जाता है और कभी आनन्द से विह्वल होकर थिरकने लगता है।

तुम कहोगे—भला यह कैसे सभव है! हमारी जैसी वहाँ चेतना कहाँ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हम लोग मुनिया (मुन्नी) के पास चले। वह देखो, अपनी गुडिया के साथ किस तरह हिलमिलकर खेल रही है, किस तरह घुलमिलकर हँस-बोल रही है।

रात मे जब सब लोग सोने लगते है, तब मुनिया भी अपनी प्यारी गुड़िया को दूध-भात खिलाकर सुला देती है और अपने नन्हे-नन्हे हाथों से कोमल-कोमल थपकियाँ दे-देकर कहती है—छो जा, मेली, लानी, छो जा!

आओ, हम मुनिया से पूछें तो सही—बहिन, तुम्हारी गुडिया तो बोलती ही नहीं, फिर तुम कैसे उससे बातें करती हो ?

लो, वह तो हमारी जिज्ञासा सुनकर बडे आश्चर्य्य से हमारी ओर देखने लगी। उसे तो विश्वास ही नही होता कि उसकी प्यारी गुडिया उसी की तरह सजीव नही। जैसे वह अपनी माँ की मुनिया है, वैसे ही उसकी गुडिया भी तो उसकी मुनिया है।

बात यह है कि मुनिया ने अपने प्राणो को गुड़िया मे भी ढाल दिया है, इसी लिए वह न बोलते हुए भी मुनिया से बातें करती है। मुनिया उस बातचीत की भाषा को समझती है, क्योंकि उसी ने तो उसमें प्राण डाला है। इसी तरह कवि भी, पुष्पो मे, वृक्षो में, लहरो मे, तारो मे, सूर्य्य मे, शशि मे, सबमें अपने प्राणो को ढाल देता है और वे सबके सब उसके लिए उसी की तरह सजीव हो उठते हैं। जैसे पारस लोहे को सोना कर देता है वैसे ही कवि की सजीवता जड को भी चेतन कर देती है।

आखिर इस नई सृष्टि और नई भाषा का उद्देश्य ?—इसके उत्तर मे मैं पूछता हूँ—भाई, जिस मुहल्ले मे तुम रहते हो, वहाँ यदि तुम्हारे बहुत-से गहरे साथी बन जायें तो तुम्हे क्या खुशी न होगी ? उन अभिन्न साथियो के बीच हँसते-खेलते, बात की

बात मे दिन ऐसे बीतते जायँगे कि तुम प्रतिदिन अपने जीवन को बहुत-बहुत प्यार करने लगोगे। तुम चाहोगे, अहा, एक-एक दिन हजार-हजार वर्षों-जैसे लम्बे हो जायँ। इसी लिए और इसी भाँति, कवि भी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मित्रता जोड़ लेना चाहता है—सबके साथ वह हँसता-बोलता है, सबके साथ वह रोता-गाता है।

बन्धु, जब तुम हँसते हो, तब तुम्हारा साथी भी हँसता है। जब तुम रोते हो तब तुम्हारा साथी भी रोने लगता है। तुम्हारे सब साथी तुम्हारी ही सजीवता के कारण तुम्हारे हँसने-रोने की प्रतिध्वनि देते है। यदि तुम निर्जीव होते तो उनके भीतर से प्रतिध्वनि नही निकलती। तुम सजीव प्राणी हो, इसी लिए जगल का सुनसान सन्नाटा भी तुम्हारी बातों की प्रतिध्वनि देता है। इसी तरह, कवि भी सृष्टि की जिन-जिन जड-चेतन वस्तुओ से अपनी मित्रता जोडता है, वे सब उसी की सजीवता से सुस्पन्दित होकर, उसके ही हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते है एव उसके ही-जैसे सहृदय बन जाते है।

इसी मित्रता के कारण कवि, प्रकृति की प्रत्येक दिशा मे अपने ही जैसे जीवन की झलक देखता है। सृष्टि की मूक वस्तुओ को भी अपने ही जैसा हिलता-डुलता प्राणी समझता है। क्या यह कोई अच्छी बात नही है?

हाँ तो, कवि अखिल सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता जोडता है, उसकी कविता उतनी ही सुख-शान्ति-पूर्ण

एव आध्यात्मिक वन जाती है। हम भरत-खड के निवासी है, हमारे कुछ अपने कवित्वपूर्ण विश्वाम है, उन्ही विश्वासो के कारण हमने आसेतु-हिमाचल प्रकृति के अञ्चल मे ही अपने तीर्थस्थल वनाये है। हमे वहाँ शीतलता मिलती है, शान्ति मिलती है, सान्त्वना मिलती है ; यमुना हमे प्रीतिप्रदान करती है, गगा हमे भक्तिदान करती है।

प्रकृति के मुकाविले आज स्वार्थो को जो प्रधानता मिल गई है, और मनुष्य प्रकृति से विच्छिन्न होकर नगर-नगर मे जो मिल और फैक्टरियाँ खोलता जा रहा है, इसका कारण है विज्ञान-वाद। विज्ञान को प्रकृति-विजयी होने का दावा है इसी लिए राष्ट्र-रक्षा के नाम पर वह जगल-का-जगल काटकर उन्हे लडाई का मैदान भी वना सकता है और मनुष्य के नाम पर मनुष्य के ही रक्त स पृथ्वी को सीचकर अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता का कँटीला झाड भी उगा सकता है। इस प्रकार तो प्रकृति ही नही, मनुष्य भी अपदार्थ होता जा रहा है, प्रधान हो गया है यन्त्रवाद। यहाँ तक कि मनुष्य भी यन्त्रो के वनने लगे है। कवि जव प्रकृति के साथ आत्मीयता जोडने लगता है, तव वह इमी यन्त्रवाद के प्रतिकूल मानो मानवी चेतना को अग्रसर करता है।

काव्य-जगत् मे प्रकृति भी हमारी पारिवारिक है, हमारी वाटिका के खग-मृग, पुष्प-पवन और छाया-प्रकाश के निखिल रूप मे। मनुष्य के जीवन मे काव्य है, सगीत है, सौन्दर्य्य है।

प्रकृति मे भी यह सब कुछ है, इसी लिए विश्वजीवन के साथ उसका ऐक्य है, पारिवारिक सौख्य है। कवि पन्त ने श्रमजीवी मानव को प्रकृति के सान्निध्य मे जिस चित्र-चारुता से उपस्थित किया है, वह इस यन्त्रवादी जडयुग मे मनुष्य और प्रकृति के स्नेह-सहयोग का सहज स्वाभाविक निदर्शन है—

बाँसो का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट,
है चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट्-टुट् !

वे ढाल-ढाल कर उर अपने
है बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्ज्जर विधुर चराचर पर
गा गीत स्नेह-वेदना-सने !

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी डगमग डग,
भारी है जीवन भारी पग !!

आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग,
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग,
औ' गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन

भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली हैं जिनकी रग-रग !

'युगान्त'

यों ही अनेक प्रकार से—

यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,—सृष्टि के साथ पला !

इसे ससार का कोई भी रियलिज्म, कोई भी विज्ञान मिटा नहीं सकता, जब तक पृथ्वी पर कवि नामक प्राणी शेष है।

कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दो मे काव्य पढ़ने के समय भी यदि हिसाब का खाना आगे खोलकर रखना पडता हो और वसूल क्या हुआ, इस बात का निश्चय उसी समय कर लिया जाता हो तो मैं यह स्वीकार करूँगा कि 'मेघदूत' से एक तथ्य पाकर हम आनन्दित हुए हैं। वह यह कि उस समय भी मनुष्य थे और उस समय भी आषाढ का प्रथम दिन नियमित समय पर आता था।

—